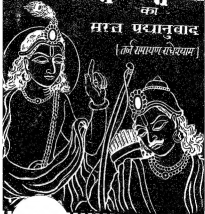


श्रीमद्भगवद्गीता

का

सरल पद्यानुवाद

[तर्जुनस्यैव सविद्वान्]



२६४.१८४१

का/भ

गोतम बुक डिपो दिल्ली

• सर्वोपकार सुवर्धित है •

• ओम् •

श्रीमद्भगवद्गीता

गीत उपाख्य

सरल पद्यानुवाद

कर्मबन्धेह कर्माणि विप्रविणेष्वर्हते समाः ।

एवं त्वविमान्ययोगोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥

भट्टपर्वट् भा० ४० । २ ।

छा० १० ~~अध्यायः~~ सुखसाधन-संग्रहः

अनुवादक

श्री ज्ञान प्रकाश एम० ए०

प्रकाशक

गौतम बुक डिपो,

नई दिल्ली, दिल्ली

प्रथम बार २०००]

१६४६

[मूल्य २०]

❀ समर्पण ❀

यह पुस्तक मैं अपने बड़े भाई ला० गिरधारीलाल जी
 सुपुत्र ला० मोलानाथजी शालिक फर्म मोलानाथ मि.
 धारीलाल, नयाबीस, देहली (महरौली निवासी) को
 जीता के परं भक्त तथा प्रेमी थे और भक्त जी के नाम
 से प्रसिद्ध थे और जो १० दिसम्बर १९४४ को लग-
 भग्न ५८ वर्ष की आयु में इस असार संसार को त्याग
 कर स्वर्ग प्राप्त विधारे

परमों में
 सादर समर्पित करता हूँ
 परमात्मा उनकी आत्मा को शान्ति दे ।

कलकत्ता—

दान प्रकाश

— एम० ए० पी० सी०

❀ विषय-सूची ❀

अध्याय	विषय	पृष्ठ
समर्पण		[४]
भूमिका	(पं० धर्मदेवजी विद्या शारस्वति)	[४]
दो शब्द	(पं० देवव्रत जी धर्मेन्दु)	[१३]
गीता का संक्षिप्त परिचय		[१६]
आकषण		[२२]
पहला अध्याय	(अर्जुन विषाद योग)	२
दूसरा अध्याय	(सांख्य योग)	१४
तीसरा अध्याय	(कर्म योग)	३२
चौथा अध्याय	(ज्ञान कर्म सन्पात योग)	४४
पाँचवाँ अध्याय	(कर्म सन्पात योग)	५४
छठा अध्याय	(आत्म संयम योग)	६२
सातवाँ अध्याय	(ज्ञान विज्ञान योग)	७४

अध्याय	विषय	पृष्ठ
आठवाँ अध्याय	(अक्षर ब्रह्म योग)	८२
नवाँ अध्याय	(राजविद्या राजगुह्य योग)	६०
दसवाँ अध्याय	(विभूति योग)	१००
ग्यारहवाँ अध्याय	(विश्व रूप दर्शन योग)	११२
बारहवाँ अध्याय	(भक्ति योग)	१३२
तेरहवाँ अध्याय	(क्षेत्र क्षेत्रज्ञ विभाग योग)	१३८
बीसहवाँ अध्याय	(गुणत्रय विभाग योग)	१४८
पन्द्रहवाँ अध्याय	(पुरुषोत्तम योग)	१४९
सोलहवाँ अध्याय	(दैवानुर संवद्भिर्भाव योग)	१६२
सत्रहवाँ अध्याय	(अज्ञात्रय विभाग योग)	१६८
अठारहवाँ अध्याय	(मोक्ष सन्यास योग)	१७६
गीता के मुख्य उपदेश	(कविता)	१६४
कठिन शब्दों के अर्थ		१६६
शुद्धि पत्र		



• श्रीरम् •

❀ भूमिका ❀



येरे मित्र कीपुत्र आज प्रभारा श्री ने श्री भगवद्गीता का व्याख्यान किया है उसके बहुत से भाँटों को मैंने देखा है। यह व्याख्यान सरल और सरल-भाषा में किया गया है। और विभिन्न पौंडरा व्याख्यानक महोदय ने इसे और भी अधिक सरल बनाने का प्रयत्न किया है ताकि सर्व साधारण लक्ष्ये अधिक लाभ पटा सकें।

भगवद्गीता में श्रीकृष्ण महाराज ने कर्मों की समस्या को कर्मयोग, निवृत्त्योग का आधार, योग, ज्ञान, कर्म, भक्ति, ईश्वर आर्पण, ईश्वर, कर्म, तप, दान, व्रत आदि विषयों का बड़ा बड़ा प्रतिपादन किया है। इसमें किसी की तरफ भी सम्मेलन नहीं हो सकता किन्तु एक ही विषय देखें हैं जिसके विषय में पाठकों को सम्मेलन होना सम्भव है इस भूमिका में अभी पर योग का प्रभारा कल्याण में आवश्यक समझता हूँ। वर्तमान गीता में जैसे जैसे कहें—

वसिष्ठोऽपि ऋषिः साक्षी निराशः शरणं गच्छतः ।

तस्यैव प्रकृत्या स्वामिनि निषादं श्रीमन्मन्त्रम् ॥

इत्यादि कई श्लोको के आधार पर बहुत से सज्जनों का भ्रम हो जाता है कि श्री कृष्ण महाराज अपने को ही ईश्वर मानते थे किन्तु वास्तुतः यह बात ठीक नहीं है । सन्देह नहीं कि गीता में “गतिर्भर्ता प्रभुः, साक्षी” जैसे कुछ वचन आते हैं जिनमें साधारणतया ऐसा मानीत होता मीकृष्ण अपने को ही परमात्मा मान कर इन वचनों का प्रयोग कर रहे हैं पर अन्य अनेक श्लोक इसी गीता में ही स्पष्ट पाये जाते हैं जिनमें श्री कृष्ण अपने से परमेश्वर को भीर पूजनीय बताते तथा यह भी कहते हैं कि मैं सब शरीरों में जाता हूँ अथाहमस्मिन् अ० १३ में वे कहते हैं—

सर्वं जगत्सु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् ।
विभक्त्यन्तर्हितं च पर्यति स पर्यति ॥

गीता अ० १३

अर्थात् सब प्राणिमंडल के अन्दर स्थित परमेश्वर को जो भाव है वेकला के वही भावी है ।

अध्याय १४ में वे कहते हैं—

ततः पदं तत्परिनामिहोत्तमं

यस्मिन् यता न विवर्तन्ति मयः

तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये

यतः प्रवृत्तिः प्रसूता पुराणी ॥ १४ । ४॥

अर्थात्—जब उस बंद पक्ष (मोक्ष) की खोज करती पादिये जहाँ से अनुपप (बहुत दूर तक) अभिप्रा नहीं खीटता । मैं भी उस सब के आदि मूल सर्व व्यापक परमेश्वर की शरण में जाता हूँ जिसने इस संसार को बनाया है । “तमेव भाष्यं पुनर्न प्रपद्ये” ये प्रथम पुनश्चान्त शब्द इस विषय में स्पष्ट हैं ।

गीता के १८ वें अध्याय में श्री कृष्ण ने अर्जुन को उपदेश देते हुये कहा है कि—

ईश्वरा सर्वभूतानां हृदयेऽर्जुन तिष्ठति ।
 भ्रामयन् सर्वं भूतानि यन्मायया हि मायया ॥ १८ । ५१
 तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत ।
 तन्मयादात्मनं शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥ १८ । ५२ ॥

अर्थात्—ईश्वर सब प्राणियों के अन्दर स्थित होकर सबको घुमा रहा है । तू सर्व भाव से उस ईश्वर की ही शरण में जा उसकी कृपा से ही तूझे विश्र शांति और मोक्ष की प्राप्ति होगी ।

ऐसे ही और अनेक श्लोकों में श्री कृष्ण ने परमेश्वर को अपने से प्रथक स्पष्टतया बताया है । अतः इन दोनों शब्दों के श्लोकों का समन्वय इसी प्रकार हो सकता है कि श्रीकृष्ण यद्यपि परमेश्वर से प्रथक थे और वैसे ही अपने को मानते थे पर योगीश्वर होने के कारण वेदान्त दर्शन के “अव्यात्म

सम्बन्ध भूया इतिमत्र" इत्यादि सूत्रों के अनुसार : के साथ विशेष प्रेम व भक्ति के कारण उन्होंने का अपना ईश्वर से तादात्म्य (Identification) कः जैसे कि हो अनिष्ट मित्र "हम दोनों तो एक हैं" ऐसे वा प्रयोग करते हैं वाचक जैसे कि शास्त्रानुसार पति पत्नी शरीर के अंग माने जाते हैं जिस का तात्पर्य कदाचित् अतिरस्य प्रेम है न कि शारीरिक संबंध से संबंध का वस्तुतः महाभारत के पढ़ने से यह स्पष्ट ज्ञात हो जाता योगीराज श्रीकृष्ण ने गीता में जो कह कर देना एक अलु की अवस्था में दिया था और वे स्वयं भी उसे वही पुनः देने में अपने को असमर्थ समझते थे जैसे कि अर्ध वर्ष के निम्न श्लोकों से स्पष्ट है जहां अर्जुन के कपदेरा को होकरा देने की प्रार्थना पर श्री कृष्ण ने कहा है

अनुदया नामहीयते तन्मे सुमहद्विषम् ।

न च साधस्यतिभूयः पुनर्मे संभवति

न हि शक्यं मया भूयः पुनर्वक्तुमोपतः ।

परं हि मया कथितं योगदुष्केन तं

अर्जुन तुने अकुट्टि करा मेरे कहे कपदेरा को जो सांति महत्त्व नहीं कर सिखा यह बात मुझे कही अशियः । साथ मुझे क्या निषय की फिर स्पष्टि न हो सकेगी । मेरे फिर सम्पूर्णतया फलका प्रतिपादन करना सम्भव न । मैंने एक विशेष योग दुष्क अवस्था में परं मया परमेश्वर का

विश्व का । इन रजोक्षी से इस विषय में ज़रा भी समझ नहीं रहता कि श्री कृष्ण परमेश्वर परमेश्वर से अपने को कुछ सम्मते थे । वे अपने को सर्वोच्च और सर्वशक्तिमान् न मानते थे तथा गीता का उपदेश एक विशेष योग की आवश्यकता में दिया गया था क्योंकि बिना शक्ति पाठक इसी दर्श से गीता के अर्थों का समझ कर लेंगे । एक दूसरा छम श्री कृष्ण के—

यथा यदा हि धर्मस्य म्लानिर्भूतः भारत ।

अधुनाऽकामधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥

परिधायाहं धातुं विनाशाय च दुष्कृतम् ।

धर्मसंशयान्धवीं संशयानि युगे युगे ॥४॥

इसार्थि अर्थों से सर्व साधारण पाठकों को छम हो जाता है । वे इन से अकालावधि का समर्थन समझते हैं कि ईश्वर स्वयं कह रहा है कि जब जब धर्म की हानि और अधर्म की वृद्धि होती है तब मैं शरीर धारण करता हूँ । धातुओं की रक्षा दुष्टों का नाश तथा धर्म की स्थापना करने के लिए मैं युग २ में अवतत होता हूँ । वास्तव में वे श्रीकृष्ण महाराज के अर्थ हैं । (न कि परमेश्वर के) इनका तात्पर्य स्पष्ट है कि जब जब संसार में धर्म की हानि और अधर्म की वृद्धि होती है श्रीकृष्ण अवतत रूप जैसे महापुरुष जन्म लेकर धर्म की रक्षा तथा अधर्म का नाश करते हैं । वे धर्म रक्षार्थ आता बलिदान तक करते हैं क्योंकि सून धातु का अर्थ विनाश अथवा त्याग भी होता है ।

१३ में आश्रय में श्रीकृष्ण महाराज ने बेरो और कमिष की तरह प्रह को अनादि सन्ध्यात्मक तथा सर्वेन्द्रिय रहि (निराकार) सर्वान्तर्यामी बताया है । जैसे कि:—

अनादिमत्परं ब्रह्म, न सन्ध्यासमुपयते । १३-१३

सर्वतः प्राक्परां तत् सर्वतोऽविशिष्टो ब्रह्मम् ।

सर्वतः कृत्स्नस्तोके सर्वबाहुस्य लिङ्गित । १३-१३

सर्वेन्द्रियगुणभासं, सर्वेन्द्रिय विवर्तितम् । १३-१४

बहिरन्तश्च भूगन्तम् अपरं परमेष्ठिव ।

सूक्ष्मत्वात्पराब्रह्मोर्ध्वं दूरस्थं कश्चित्के च तत् । १३-१५

इन श्लोकों से अत्यन्त स्पष्ट है । जगत् सभी बात वेद शास्त्र तथा तर्कसम्मत है कि सर्व व्याप्त निराकार परमेश्वर सत् शक्तिमान और सर्वज्ञ हैं । उन्हें शरीर धारण करने की कर्म आवश्यकता नहीं होती । उनकी कृपा से योगीराम श्रीकृष्ण जैसे महानुभाव समय २ पर जन्म लेकर कर्म की स्वाध्या और अपर्मा का जारा करते रहते हैं ।

गीता और वेद—

कई सज्जन जिन्होंने स्वानुपूर्वक गीता का अनुशीलन नहीं किया वह कहते हुए सुने जाते हैं कि गीता में वेदों को ईश्वरीय ज्ञान नहीं माना गया । तथा कई स्थानों पर उनकी आलोचना की गई है । परन्तु वस्तुतः यह भ्रम है ।

गीता के अ० ३ श्लोक १३ में ।

कर्म अशोध्यं विद्धि ब्रह्मकर्मसुहृदम् ।

तत्प्राप्त्यर्थेणैव तद्विन्द्यं यत्ते प्रतिष्ठितम् ॥

स्पष्ट बतलाया गया है कि कर्म की अवधि वेद से है (वेद के द्वारा ही कर्तव्य कर्म का ज्ञान होता है) और वेद की अवधि अविनाशी परमेश्वर से है इसलिए सर्वज्ञानो परमात्मा ही सदा सदा में प्रतिष्ठित है इसी प्रकार गीता अ० १७ श्लोक २३ में ।

ओ तत्प्रवृत्तिं विन्देती मद्रथन्निविधः स्मृतः ।

माद्रथं प्लेन वेदस्य, यद्वायं विद्वताःपुरा ॥

अर्थात् ओकेम् तत्स्मृत् पद वाच्य स्पष्ट है । उस स्पष्ट ने ही वेद बतलाये और यज्ञों का विधान किया है ।

“मद्रथ” पद कठ कश्मीरी संस्करणों में पाया जाता है । जो इसे ज्ञान कर्म के साथ प्रवृत्त माद्रथस्तेन शब्द की अपेक्षा अधिक स्पष्ट करीत होता है । माद्रथप्लेन मानने पर भी इस श्लोक से वेदों का ईश्वरीयता स्पष्टतया प्रमाणित होता है । गीता के दूसरे अध्याय के कुछ श्लोकों में जो वैदिक कृत्रिम श्रमों की आलोचना प्रतीत होती है वह केवल उन श्लोकों की है जो वेदों के अनुसार अपने जीवन को पवित्र नहीं बतलाते किन्तु केवल वेदों का शब्द कभी कभी करने में लग्न रहते हैं जैसे कि—

“वेदवाहरताः चार्चं मान्दस्यैव विद्वन्” इत्यादि शब्दों से स्पष्ट है । केवल कुछ कर्म अथवा ओं ही जो सब कुछ समझते

हैं इसके अतिरिक्त ज्ञान उपायनादि या कुछ नहीं, ऐसा मैं मानते हैं उन्हीं को सही अभिज्ञान या अभिपरिचयः इस शब्द से पुकारा गया है । इस से वेदों की निन्दा या कोई तात्पर्य नहीं ।

इस शब्दों के साथ मैं श्रीगुरु ज्ञानप्रसाद की कृत मन्त्र-गीता या मन्त्रावली-पाठों के सम्मुख रखता हूँ । आशा है वे सबसे विशेष लाभ उठावेंगे और उसे लोकविय बजाने में सहायक होंगे ।

धर्मदेव विद्यावाचस्पति

सं० सन्धी सार्वदेशिक धर्मार्थ समा
देहली ।



दो शब्द

बीसहजारवर्ष गीता एक अनुपम ग्रन्थ है यह बात सर्वमान्य और लोक विषय है कि संसार की ज्ञान-समस्त भाषाओं में इसके अनुवाद दो चुके हैं। संस्कृत भाषा से अनभिज्ञ गीता ऐसी जनता को नैने केवल भाषा पाठ करते देखा है और बहुत सारे बहिन भाइयों की तो केवल “गीता माहात्म्य पाठ” करके ही संतोष करते देखा है। मेरी यह दृष्टिक दृष्ट्या की कि इस ग्रन्थ राजा का पञ्चानुवाद पं० राधेराय जी की राधापद की सुवर्णद्वार पर गाने योग्य कविता में दो जगै-जिससे राजापद की तरह पर २ में गीता भी गाई जा सके और प्रत्येक भाषाएँ इस सी उरुव सुनिवा पूर्वक गीता से पूरा २ काम कर सकें।

मुझे यह जानकर आश्चर्य एवं दुःख है कि जिन सत्य-वीर्य वाली के फलदायी कार्य करती की ज्ञान-ज्ञानराज जी ने

(जो एक अच्छे कवि भी है) श्रीमद्भगवद् गीता जैसे सूत्र विषय को अतीव सरल, सुशोष एवं रोचक पद्यों में एवं साधारण जनता के लिये अनुवाद करके एक मद्धती आवश्यकता की पूर्ति कर दी है । उन्होंने अपने अनुवाद में से कई मद्धत पूर्ण पद्य बदल कर सुने सुनाने की कृपा की है । अनुवाद निश्चयसे क्या सरल है जिसे हिन्दी की साधारण बोधता रखने वाला प्रत्येक मनुष्य सुगमता से समझ सकता है । गीता जैसे कठिन दार्शनिक विषय का प्रचार गायक तथा कवि यही सुगमता से अपनी कविता व गायन द्वारा कर सकते हैं । कवि उसे सुन्दर करके गायक के लिये सामग्री जुटाता है । और गायक मधुर ध्वनि में उसे जनता के सामने प्रस्तुत करता है जिससे मनुष्यों के लिये कठिन से कठिन विषय भी अत्यन्त रुचिकर व सरल हो जाता है ।

अनुवाद करने में अनुवादक प्रायः या तो मूल पुस्तक के भाव को छूटा कर देते हैं या मूल से भी कठिन कर देते हैं । मुझे गीता के इस अनुवाद को सुनकर यह अनुवाद अपरोक्ष दोनों दृष्टियों से ऊपर जाना है ।

गीता के विषय के सम्बन्ध में यद्यपि मूल भाव से किसी का विरोध नहीं क्योंकि गीता मनुष्यों को निष्काम कर्म करने का उपदेश तथा योग की शिक्षा देती है और मनुष्य जीवन का उद्देश्य भर्त्सना मुक्ति और उसके साधनों का ज्ञान कराती है

तथापि दो तीन बातों में वैदिक धर्मो इससे सहमत नहीं जैसे अवतारवाद, विशाङ्क रूप दर्शन, ईश्वरीय ज्ञान परम पवित्र वेदों के सम्बन्ध में उनके महारथ को कम करके दिखाने का भाव आदि २ इन विषयों के सम्बन्ध में लिपराही करके मैं इस गीता के अनुवाद की शोचनता में बाधक बनना उचित नहीं समझता । इन विषयों के सम्बन्ध में जो जैसा २ विश्वास रहता है वैसा वैसा इनका समाधान कर लेगा । अनुवादक ने केवल मूल पुस्तक का अनुवाद करके जनता के सामने रक्खा है । इसे समझना व इस पर सम्मति देना अलग काम है । मैं इन खोदे से शब्दों के साथ ज्ञान-ज्ञानप्रकाश जी को उनके पुस्तकालय के लिये हार्दिक बधाई देता हूँ । मुझे आशा है कि गीता प्रेमी संस्कृत से अनभिज्ञ सर्व साधारण हिन्दू जनता इस अनुवाद को बहुत पसन्द करेगी । और इसे अपना कर इससे पूरा २ लाभ उठा अपने कर्त्तव्य का पालन करेगी ।

देवव्रतः धर्मेन्दु

“आयुर्वेदपदेशक” दरिया गंज, देहली ।

गीता का संक्षिप्त परिचय

गीता के द्वारा भगवान् कृष्ण ने महाभारत के युद्ध प्रारम्भ होने से पूर्व अर्जुन के मन में मोह का पर्दा हटाकर स्वच्छ करने का उपाय का ध्यान दिखाया है और युद्ध करने के लिये प्रेरित किया है। अन्धाय को सड़न करना अन्धाय करने वाले के जसाह को बढ़ाता है और इस प्रकार से संसार की रात्रि को भंग करता है। इस लिये आनतायी यदि गुरु या पुत्रनीय भी क्यों न हो उसको मारना ही बर्न है यही गीता के उपदेश का सार है।

पहले अध्याय में अर्जुन की कृष्ण को अपना रथ दोनों सेनाओं के बीच रुका करने को कहते हैं और यह देखकर कि तुझे अपने पुत्रनीय गुरुओं तथा सम्बन्धियों से जड़ना होना यह दुःखी होता है और न लड़ने का निश्चय करके बैठ जाता है।

दूसरे अध्याय में भी कृष्ण की उसको चित्त २ सुकिया देकर समझाते हैं कि इस समय तेरा कर्ण्य युद्ध करना है। आत्मा अमर है इस लिये कोई भी किसी को नहीं मार सकता। मनु केवल शरीर का बदलना है। अतुल्य कहेंगे कि रथ से उतर कर भाग गया है यशस्वी पुरुष के लिये अपवरा मनु से

भी गुरु है। तेरा कर्म करने में ही आधिष्ठान है फल का देना परमात्मा के हाथ है। यदि तू कर्म को केवल कर्त्तव्य समझ कर करेगा और फल की इच्छा न करेगा तो तुझे पाप न लगेगा। यदि तू जीत या हार की बख्शा दानि या लाभ की और सफलता या निष्फलता को समान समझेगा तो कर्म बन्धन से मुक्त होवेगा। जो विषयों और कामनाओं को त्याग देता है वही मर शान्ति को पाता है। मनुष्य भोगों को भोगने से कभी सुख या शान्ति नहीं पाता।

तीसरे अध्याय में ब्रह्म की बहिष्मा बतलाई है। लोक हित लागू कर्म को ब्रह्म कहा है। काम और मोक्ष मनुष्य के महान शत्रु हैं। मोक्ष की प्राप्ति के लिये इनको मारना आवश्यक है। जो ब्रह्म भी भेद पुरुष करते हैं वही अन्य बन करते हैं। इस लिये बुद्धिमान् पुरुष को चाहिये कि वह अपने आचारस्य द्वारा मनुष्यों में सत्य धर्म का प्रचार करे।

चौथे अध्याय में ज्ञान के द्वारा कर्मों का भजन करना बताया है। ज्ञान से बढ़कर पवित्र संसार में कुछ भी नहीं है। वही मोक्ष का कारण है।

पांचवें अध्याय में अर्जुन प्रश्न करते हैं कि हे भगवन् कभी व्याप कर्म करने का उपदेश देते हैं और कभी ज्ञान को कर्म से बढ़ा बता कर कर्म त्याग का आदेश देते हैं। श्रीकृष्ण भी उत्तर देते हैं कि मनुष्य कर्म के बिना तो रह ही नहीं सकता अतः मनुष्य

को यदि कर्म के साथ संग्राम न हो और वह भले या दु-
 शीर-शाम को समझ सकने से वह कुछ न करने वाले के बराबर
 है। जो मनुष्य प्रिय वस्तु को पाकर प्रसन्न नहीं होता और
 अप्रिय वस्तु को पाकर दुःखी नहीं होता, मिठी और सोने के
 बराबर मानता है वही सच्चा योगी है और मोक्ष के
 अधिकारी है।

इस अध्याय में बताया कि यदि मनुष्य सब को अपने ही
 समान समझे तो वह ही योगी है। मनुष्य सब ही अपने
 मित्र है और वह सब ही अपना राजा है।

सातवें अध्याय में श्री कृष्ण जी कहते हैं कि जो ब्रह्म से
 मेरा आग्रह लेता है वह योगी होकर मुझे ही पाता है। श्री
 कृष्ण योगीराज से बहुत बड़ी ही ऐसा करने का आधिकार
 रखते हैं। वे अर्जुन को समझाने के लिये ऐसा कहते हैं।
 आठवें नवें और दसवें अध्याय का सारांश भी यही है।

न्यारद्वैत अध्याय में श्री कृष्ण जी ने योग राज के द्वारा
 अपना विराज रूप दिखाया है। जिस प्रकार से मनोविज्ञान
 (या मिसनरेज्म) के द्वारा एक मनुष्य दूसरे के मन को अपने
 वश में करके अपनी इच्छानुसार उससे कर्म करवाता है वसी
 प्रकार श्री कृष्ण ने अर्जुन के मन में बैठ कर उससे वही
 अनुभव कराया जो वे चाहते थे।

चारद्वय अर्थात् में श्री कृष्ण जी यह बताते हैं कि जो मनुष्य किसी से द्वेष नहीं रखता, सब को बराबर समझता है, जिससे इन्द्रियों को बल में कर रखता है, संतुष्ट है, योगी है, न आश्चर्य प्रसन्न होता है, न शोक करता है, शत्रु और मित्र को समान देखता है, मान अपमान निर्दोष, श्रुति सही, धर्म, सुख, दुःख सब में एक ही भाव रखता है अर्थात् ब्रह्मब्रह्म नहीं होता बही सुखको प्यारा है और बही कर्मबन्धन से मुक्त होकर मोक्ष को पाता है ।

तेरहवें अध्याय में बताया कि यह जो मनुष्य का शरीर है द्वेष करता है और इसमें स्थित आत्मा श्रेष्ठ करता है और श्रेष्ठी भद्र है ; अर्थात्, अच्छा, द्वेष सुख, दुःख, हिंसा पराजय, काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि संशय अर्थात् आत्मा को मज्जीन करते हैं । इन से दूर रहना चाहिये । जानने योग्य होने से परमात्मा को द्वेष भी करता है उस को जानना ही ब्रह्मविद्या ज्ञान है ।

बीसवें अध्याय में सब रस और तम तीनों गुणों की व्याख्या की है । सत्त्व गुणों में सब गुण प्रधान होता है । रजस गुणों में रसोगुण की प्रधानता होती है और तीक्ष्ण गुणों में तमोगुण अधिकता में होता है । जो इन तीनों गुणों को चार कर लेता है, वह योगी बन जाता है । जो लक्ष्मण और कर्मयोगी या योगी के बताये हैं बही लक्ष्मण गुणगीत या स्थितप्रज्ञ के हैं ।

पन्द्रहवें अध्याय में संसार को छूटे वीर्य के वृक्ष से भ्रम ही गई है। इस वृक्ष की जड़ें ऊपर हैं और पत्ते नीचे हैं। इसमें वेद के पत्ते हैं और विषम भोग की कोपलें हैं। और अहंकार, ममता और कायना की जड़ें हैं। कर्मयोग द्वारा ही इन सब को काटा जा सकता है।

सोळहवें अध्याय में वैसी सम्पत्ति वाले कौन होते हैं की राजसी सम्पत्ति वाले कौन होते हैं यह खोजकर बताया है। वना, दया, समता आदि कलरोक्त गुणों को रखने वाले मनुष्य वैभ प्रकृति वाले कहलें हैं और इसके विपरीत अहंशुन्य व दोषशुन्य मनुष्य राजसी स्वभाव के रहे लें हैं।

सत्रहवें अध्याय में तीन तरह की बड़ा अर्थात् सात्विक, राजसी और तामसी बड़ा का बर्णन किया गया है। इन प्रकार आहार, वान, तर, कर्म, यज्ञ आदि का भी इन्ही तीनों भागों में बांटा है। सात्विक शुद्ध सब से उत्तम है और तामसिक सब से मुरा है। आगे चतुर्कर ० तत् सत् की व्याख्या की है।

अठारहवें अर्थात् अन्तिम अध्याय में पहले तन्वात की त्याग में भेद बताया है कर्तव्य कर्म का त्याग सम्प्राप्त है और फल की इच्छा का त्याग ही वास्तविक त्याग है। फिर त्याग का भी तीन भाग अर्थात् सात्विक, राजसी और तामसी में बांटा है फिर बताया कि प्रत्येक कार्य के पांच कारण होते हैं। जैसे य-
 मज्जमा मज्जमे जो मज्जमा के जो मज्जमे —————

मारने वाले की चेष्टाएँ, शस्त्र विपक्षी प्रहार किया जाने और भाग्य वह बीच मिलाकर मारने की क्रिया करते हैं परन्तु मनुष्य जहाँ-तहाँ के करा होकर वेदों अपने को ही नहीं मानता है। इसीसे कर्मवन्दन में आता है। फिर ज्ञान, कर्म, कर्ता, बुद्धि, कृति और सुख को भी त्रयोक्त तीन भागों में बाँटा गया है। फिर ज्ञान, कर्म, कर्ता के भी तीन प्रकार से अर्थात् सात्त्विक, राजसिक और तामसिक भेद दिखलाये हैं। इसी प्रकार बुद्धि अर्थात् चारखा और सुख को भी तीन भागों में बाँटा है। फिर आकाश, अग्नि, वायु और शून्य के लक्षण बताये हैं। अतएव यह कर्तव्य है कि वह अपने कर्म करता रहे। इसके पश्चात् फिर यही कर्म योग का मार्ग बताया है और इस बात को स्पष्ट किया है कि यदि मनुष्य अपने कर्तव्य को निष्ठापूर्वक रूप से करे और ईश्वर की भाँति में व्यवहार करे तो वह मोक्ष को पाता है।

इस उपदेश के पश्चात् श्री गुरु ने अर्जुन से पूछा कि तुमको मेरा आदेश समझ में आया या नहीं।

अर्जुन ने कहा मैं आपका उपदेश कभी प्रथम से समझ गया हूँ, और मेरा मन दूर हो गया है। मैं तुम्हारी आज्ञानुसार ही कार्य करूँगा।

यह सारी बात संजय से स्वयं सुनकर धृतराष्ट्र को सुनाई है जो नेत्रहीन होने से स्वयं कुछ भी न देख सकते थे।

अनुवादक



प्राक्कथन

प्रिय पाठकगण !

बीमङ्गलभङ्गीता का अनुवाद अनेक भाषाओं में गद्य र्थ पद्य में हो चुका है। बड़े-२ विद्वानों ने इसकी टीका की है र्थ अपनी सम्मति के अनुसार व्याख्या की है। उन विद्वतापुंजों के होते हुये मुझ अल्प बुद्धि द्वारा भी अनुवाद कर का सादर करना श्रुष्टता पूर्ण ही है। तथापि गीता को सद्बुद्धि अनायास ही अनुगम्य का विषय इस पर कुछ अपने विचार प्रकट करने को बाध्य हो उठता है। इस पुस्तक को लिखने का उद्देश्य इसकी निम्नलिखित विशेषतायें हैं। यदि पाठकों ने इसको पढ़ लिया तो मैं इस परिणाम को अत्यन्त प्रसन्न हूँगा।

निर्देश

(१) यह पुस्तक आसानी भाषा में लिखी गई है जिससे कि साधारण भाषा का ज्ञान रखने वाले भी इसको समझ सकें ।

(२) कठिन शब्दों और विषयों की व्याख्या पुस्तक के पीछे दी गई है जिससे कि गूढ़ विषय भी सरल हो गये हैं ।

(३) यह का लम्बे अतीव रोचक है । यह वह तर्ज है जिसमें प्रसिद्ध कवि राघोपाय ने अपनी रामायण लिखी है । इसके द्वारा रामायण की तरह मनोपदेशक गीता जैसे कठिन विषय की भी कथा गाकर लोगों को सुना सकते हैं ।

(४) रोचक होने से कठिनाई भी की जा सकती है । इस प्रकार गीता का प्रचार अधिक होगा । वेद व उपनिषदों के परवान् संचार में व्यास, मुनि, शक्ति जाने वाली यदि कोई वस्तु है तो वह गीता ही है वह बात किसी से छिपी नहीं । इसलिये इसका जितना प्रचार हो उतना ही अच्छा है । यही इस पुस्तक का मुख्य उद्देश्य है ।

अन्त में मैं ५० बमदेव जी विद्यावाचस्पति का अत्यन्त कृतज्ञ करता हूँ जिन्होंने अपना बहुमूल्य समय देकर इस अनुवाद की भूमिका लिखी है और इस को दोहराकर वहाँ वहाँ संशोधन भी किया है तथा समय समय पर अपनी अमूल्य

सम्मति द्वारा मुझे अनुगृहीत किया है । पं० देवप्रताप
धर्मेन्दु ने भी अपनी अपूर्व सम्मति देकर मुझे कृतार्थ किया है
मैं उन का अत्यन्त आभारी हूँ ।

अनुवादक





० २ ०

सिद्धिचिन्ता

का

सरस्वती-सङ्ग्रह

—

(उत्तर, उत्तराखण्ड - धर्मशास्त्र)

—

लेखक—

श्री ज्ञान प्रकाश

एम० ए०, बी० टी०

—

प्रकाशक—

गौतम बुक डिपो,

नई सड़क,

देहली ।

००

प्रथम बार १०००]

१९४१

[मूल्य]

• • •

अथ

श्रीमद्भगवद्गीता

प्रथमोऽध्यायः

सुतरश्चोवाच

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः
मामकाः पाण्डवास्तथैव किमकुर्वत संजय ॥ १ ॥

संजय उवाच

रुद्रा तु पाण्डुधानीकं व्यूढं द्रुपदेवमस्त्रम् ।
आचार्यद्रुपसंगम्य राजा वचनमब्रवीत् ॥ २ ॥
परपैता पाण्डुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम् ।
व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण भीमता ॥ ३ ॥
अत्र शूरा महेष्वासा भीमांतुर्नसमा युधि ।
सुपुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः ॥ ४ ॥
दृष्टेःदुर्नेहिरथः काशिरावश्च वीर्यवान् ।
दुरविशदुन्तिभीमश्च शैब्यश्च नरपुङ्गवः ॥ ५ ॥

श्रीमद्भगवद्गीता

॥

सरस्वती सङ्घातुवाद

(तर्जुन-रामायण रावेस्वाम)

— ७७ —

❀ पहला अध्याय ❀

(अर्जुन विषाद योग)

कृतराष्ट्र संजय से प्रश्न करते हैं—

उस धर्मक्षेत्र दुरुभूमि में एकत्र हुए स्वाचाह शिष्ये ।
मम पुत्रों अरु पाण्डव दलने बोलो सञ्जय क्या कर्म किये ॥१॥

सञ्जय का उत्तर— (बुद्ध का प्रारम्भिक दृश्य)

सञ्जय बोला अग्नि-ज्यूह देख दुर्योधन मन में चकराया ।
आचार्य द्रोण के पास पहुँच विस्तार सहित यह वदसाया ॥२॥

पाण्डव की लम्बी सेना को आचार्य ! तनिक देखो तो सही ।
तब शिष्य द्रुपद के बेटे ने अति बटिल ज्यूह में लड़ी करी ॥३॥

इस सेना में अति शूरवीर भीमार्जुन सम धनुषधारी हैं ।
युधुधान, विराटा महासूरी, अरु द्रुपद तुल्य वलधारी हैं ॥४॥

बह दृष्टकेतु, चिकित्सान तथा वह काशीराज है महाबली ।
हैं इन्ति भोज, पुरुवीर वहां नस्थेष्ट शौन्य है पराक्रमी ॥५॥

पुष्पामन्पुष्पं विक्रान्तं तत्तदीयत्तत्तदीयवान् ।

लीमदो द्रीपदेवारच सर्व एव च्छरत्तः ॥ ६ ॥

अस्माकं तु विशिष्टा ये ताधिरोध द्विजोत्तम ।

नायका मम सैन्यस्य संघार्थं तान्त्रयीमि ते ॥ ७ ॥

अश्वत्थीपारच कर्मस्य कुपरच तद्विजयः ।

अश्वत्थीपारच विजयस्य लीमदचिस्तथैव च ॥ ८ ॥

अन्ते च बहवः शुभ मध्ये त्यक्त जीविताः ।

नानादशमदशकाः सर्वे बुद्धविशुद्धाः ॥ ९ ॥

अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम् ।

पर्याप्तं त्वदमेतेषां बलं भीष्माभिरक्षितम् ॥ १० ॥

अपनेषु च सर्वेषु पशुभावात्तद्विजयः ।

भीष्ममेवाभिरक्षन्तु मयन्तः सर्व एव हि ॥ ११ ॥

तस्य संजनयन् हर्षं

कुरुगुहः पितामहः ।

सिंहनाथं विनयोधैः

शङ्खं दध्मी प्रतापवान् ॥ १२ ॥

ततः शङ्खाय मेर्वथ पशुभावात्तद्विजयः ।

यदस्मैवान्मदन्त्यन्तं तं शब्दस्तुमुल्लोभमवद् ॥ १३ ॥

ततः स्वेतेर्हरीशुक्ले कदापि स्यन्दने स्थितौ ।

माधवः शङ्खपरधौ द्विजो संज्ञी प्रदध्मतुः ॥ १४ ॥

उनमोक्षा और युधामन्यू, अभिमन्यू बल को धारे हैं ।

जब द्रौपदि के बैठे पाखों सब महारथी रखधारे हैं ॥६॥

दोहा—नायक अब निज पक्ष के, सुनिये कुपा निधान ।

ज्ञान हेतु संघेर में, उनका करूँ रखान ॥७॥

हैं आप न दादा भीष्म हैं कृप और कर्ण से बोर यहाँ ।

निकरण हैं, अश्वत्थामा हैं पुनि भीम इति रखधोर यहाँ ॥८॥

दुष्ट और अनेकों शून्वीर मम हेतु युद्ध में आवे हैं ।

हैं कस शस्त्र से दुष्ट सभी रण कीशंत में यश पावे हैं ॥९॥

इन भीष्म पितामह रचक हैं पर सेना बान्ही लगती है ।

पर उधर भीम द्वारा रचित सेना में भारी शक्ती है ॥१०॥

बस इसी लिये सब मोर्चों पर सब कीम स्थान पर खड़े रहें ।

भीष्म की रक्षा करने की सब युद्ध क्षेत्र में अड़े रहें ॥११॥

दोहा—ऊँचे स्वन ने भीष्म ने, दीन्हा शंस बजाय ।

दुर्योधन सुन नाद को, फूला बड़ी समाय ॥

जब भीष्म प्रतापी ने ऊँचे स्वन से वह शङ्ख बजा दीन्हा ।

करके अति भारी मिहनाद दुर्योधन-चित्त दर्पित कीन्हा ॥१२॥

तब शङ्ख नगारे होल बजे रखधोरों का आह्वान हुआ ।

इक साथ बजे सारे बजे सहसा इक शब्द महान हुआ ॥१३॥

इक सुन्दर रथ में जुते हुए कुछ घोड़े स्वतः दिलाते थे ।

ओकुण्ड और अनुरुन बैठे अति अद्भुत शङ्ख बजाते थे ॥१४॥

पञ्चजान्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनञ्जयः ।
 पौण्ड्रं दध्मी महाशोस्तं भीमकर्मा वृकोदरः ॥ १५ ॥
 अनन्त बिजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
 नकुलः सहदेवरत्न सुघोषमणिपुष्पकौ ॥ १६ ॥
 काश्यपश्च परमेष्वासः शिस्तपृष्ठीच महारथः ।
 दृष्टद्युम्नो विराटश्च द्रुपदश्चैव पराजितः ॥ १७ ॥
 द्रुपदो द्रौपदेयश्च सर्वशः पृथ्वीवते ।
 भीमद्रश्च महाबाहुः शंखान्दधुः पृथक् पृथक् ॥ १८ ॥
 स भीमो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत् ।
 नमश्च पृथिवीचैव तुभ्यो व्यतुनादयन् ॥ १९ ॥
 अथ व्यवस्थितान्दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान्कपिपञ्चजः ।
 पृथक् शस्त्रसम्पाते बहु रुद्यम्य पाण्डवः ॥ २० ॥

अत्रुन वयाच

हृषीकेशं सदाचार्यमिदमाह महीपते ।
 सेनयोरुमयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽन्युत ॥ २१ ॥
 पाण्डेवाभिरीक्षेय्यं योद्धुं कामानवस्थितान् ।
 कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन् रथासहस्रमे ॥ २२ ॥
 पांस्यमानानवेक्षेय्यं द एतेऽत्र समागताः ।
 धार्तराष्ट्रस्य दुर्योधनेर्धुर्ध्वे प्रियथिस्तीर्षवः ॥ २३ ॥

माधव ने लीन्हा सज्जामण्य, दिवदत्त पार्थ ने सम्भाला ।
 अरु भीमसेन बलराज्यही ने निज पीण्डरशङ्ख बाजा बाला ॥१५॥
 फिर कुन्ती पुत्र बुधिष्ठिर ने आनन्त विजय का नाद किया ।
 सहदेव नकुल ने बारी से मणिपुष्प सुधोष बजाव दिया ॥१६॥
 धनुषधारी लङ्कीरुध बहाँ भी बिरट, शिखरही अड़ते थे ।
 ये दृष्ट द्रुमन सात्पथिक बोझा थे नहीं किसी से डरते थे ॥-आ॥
 ये द्रुपद वीर निज सुगौ संहित, अभिमन्यु भी दिखलाते थे ।
 ये महाबली पोझा रण में जो तनिक नहीं षवराने थे ॥-प॥
 इन सब ने अपने शङ्ख लिये अति ऊँचे स्वर से घोष किया ।
 आकाश हिला वृष्णी कर्षः सब कीर्ण दल भी कंपा दिया ॥१७॥
 धृतराष्ट्र-सुतों को जब देख्वा तैयार युद्ध के लिये खड़े ।
 धनुर्लिया कपिध्वज अर्जुन ने मनुसुदन रथ पर जाव अड़े ॥१८॥

अर्जुन बोला—

फिर माधव से अर्जुन बोला हे भूप ! जरा तुम ध्यान करो ।
 हे कृष्ण हमारा रथ दोनों सेनाओं बीच खड़ा कर दो ॥२१॥
 मैं सारे वीरों को देखूँ पूरी मम इच्छा जाव करे ।
 किन् २ से लड़ना है मुझको यह दरख दिलाकर जाव दगे ॥२२॥
 हे इच्छा एक यही मेरी देखूँ जो लड़ने आवे है ।
 जो दृष्ट कुमति दुर्वोधन हित निज प्राण मँवाने आवे है ॥२३॥

संजय उवाच—

एवमुक्तो हपीकेशो

गुडाकेनो न मारुत ।

सेनयोरुपयोग्ये

स्थापयित्वा श्लोचम् ॥ २४ ॥

भीष्मद्रोणप्रसूतः सर्वेषां च महीक्षिताद् ।

उवाच पार्थ पर्येतान् समवेतान् कुरुनिति ॥ २५ ॥

उवाच पर्याप्तिस्थितानपार्थः पिबन्थ पिबामहान् ।

आचार्यान्वातुलान्भ्रातृन्पुत्रान्पौत्रान्सखीन्सह ॥ २६ ॥

रथसुगन्तुहृदरथैव सेनयोरुपयोग्ये ।

तान्नमयीत्य म कोन्तेयः सर्वान्विबुधस्थितान् ॥ २७ ॥

अर्जुन उवाच—

कृपया पर्याविष्टो विपीदन्निदमवधीत् ।

रद्भेर्मे स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं दृष्टपश्चिरम् ॥ २८ ॥

सीदन्ति मम गात्राणि मूर्खं च परिशुष्यति ।

केवयुश्च शरीरे मे शोभद्दर्शश्च जायते ॥ २९ ॥

गाण्डोर्व ससते हस्तात्प्रवचनैव वन्दिष्यते ।

न च शूलोन्मत्तश्चाहुः समतीव च मे मनः ॥ ३० ॥

निमिषानि च पर्यामि विपरीतानि केवय ।

न च श्रेयोऽनुपर्यामि हत्वा स्वजनमाहवे ॥ ३१ ॥

संजय ने कहा—

दोहा—उदगाथा रथ कुम्भ ने उसी स्थान पर लाय ।

भीष्म, द्रोण, अरु अन्य नृप, दिने सभी दिखलाय ॥

॥ सुनकर मांसय ने दोनों सेनाओं में रथ खड़ा किया ।

॥ स लड़ने वाले दोनों की सम्पूर्ण रथ से दिखा दिया ॥२४॥

गोले भीकुम्भ लखो कर्तुन ! यह कौरव बस दिखलाते हैं ।

॥ यह भीष्म द्रोण हैं खड़े हुए दोनों मुस्लिम कहलाते हैं ॥२५॥

प्रजुन ने देखा चाचा हैं अरु, दादा, मामा खड़े हुए ।

॥ माचारज हैं, भाई भी हैं, सब पुत्र वीर हैं अड़े हुए ॥२६॥

॥ मित्र सखा भी स्वसुर बड़ा थे लड़ने को तैयार सभी ।

॥ नेत्र बन्धुन को रथ में लख कर सम्बन्धी भी बनिवार सभी ॥२७॥

अर्जुन बोला—

दिल देख दिया से दुस्मित हुआ मधुसूदन से यूँ बचन कहे ॥२८॥

अपने सम्बन्धी की हलकर जो लड़ने मुक्त से आय रहे ॥२९॥

बन अङ्ग शिथिल होते जाते हल मेरा सुखा जाता है ।

॥ तब मेरा सारा कांप गया सिर में भी चक्कर आता है ॥३०॥

कर से गायत्री सरकता है अरु देह जली जाती मेरी ।

॥ अति कठिन खड़ा रहना मुक्त की बुद्धि है चक्रवर्ती मेरी ॥३१॥

सचण विपरीत नजर आते मित्र कुल का मैं संहार करूँ ।

॥ नहिं कुशल दिखई देती है स्वजनों पर जो मैं पार करूँ ॥३२॥

न काठचे विजयं कृष्ण न च गज्यं सुखानि च ।
 किं नो राज्येन मोचिन्द किं भोगैर्जीवितेन वा ॥
 येषामर्थे कांचित् नो गज्यं भोगा सुखानि च ।
 त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च ॥
 आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः ।
 मातुलः स्वसुरा पीत्राः स्याताः सम्बन्धनस्तथा ॥

एताञ्च हन्तुमिच्छामि

अतोऽपि मधुसूदन ।

अपि शैलोत्तरराजस्य

हेतोः किं तु महीकृते ॥ ३५ ॥

निहत्य धार्तराष्ट्रजः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन ।
 शत्रुमेषाभयेदस्मान्दृष्ट्वैतानादृतापिनः ॥ ३॥
 तस्मान्मार्हा कथं हन्तुं धार्तराष्ट्रान्स्वर्षाचक्षान् ।
 स्वजनं हि कथं हत्वा सुहिनः स्वाम वाधय ॥ ३॥
 यद्यप्येते न वरयन्ति शोभोपहतचेतसः ।
 कुरुक्षेत्रं दोषं निबद्धोदे च पातकम् ॥ ३॥
 कथं न श्रेयमस्मभिः पापादस्माच्चिरार्तिहृम् ।
 कुरुक्षेत्रं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन ॥ ३॥
 कुरुक्षेत्रे प्रहरयन्ति कुरुधर्माः सनातनाः ।
 धर्मं नष्टे कुरु कुरुस्वर्षधर्मोऽभिभवत्युत ॥ ४॥

मैं नहीं राज करना चाहूँ रस जीत सुखों की चाह नहीं ।
 क्या करना है इन भोगों का इन प्राप्ति की परवाह नहीं ॥३२॥
 जिन को सुख देने की खातिर हम राज भोग की चाह करें ।
 राज वही मोह निज प्राप्ति का रस में लड़ने की चाह करें ॥३३॥
 आचार्य, निरु, सबके, दाया है सभी यहाँ एकत्र हुए ।
 मामा, दोते, साले व ससुर सब सम्बन्धी एकत्र हुए ॥३४॥

दोहा—भूमि सरित सुख की मिले, तीन लोक का राज ।

इन की मैं मारूँ नहीं, मरूँ स्वयं महाराज ॥

धृष्टी का तो कहना ही क्या यदि त्रैलोक्य का राज मिले ।
 मैं मारा भी जाऊँ रस में नहीं इन पर मेरा शम्भ चले ॥३५॥
 धृष्टनाट्ट सुखों की वष करके क्या मन हर्षित हो सकता है ।
 इन पापिन की भी मार सखे ! क्या मेरा हित हो सकता है ॥३६॥
 धृष्टनाट्ट सुखों को हम मारें यह उचित नहीं लगता इनको ।
 यदि बन्धु हमारे मरजायें तो क्या सुख मिलसकता हमको ॥३७॥
 यह यद्यपि लोभ के बश होकर नर पाप देख नहीं पाते हैं ।
 कुल नाश भवे क्या हानि हो अन्दाज़ह नहीं लगाते हैं ॥३८॥
 पर माधव जेने जाना है परिणाम पुरा इसका होगा ।
 कर्त्तव्य हमारा अब यह है रोके रस को अच्छा होगा ॥३९॥

दोहा—हीठा है कुल नाश से, नष्ट सनातन धर्म ।

धर्म नष्ट जब हो गया, कैले पोर अधर्म ॥४०॥

अथमभियवास्तुभ्यः प्रदृष्यन्ति कुलविधयः ।

स्त्रीषु दुष्टासु वाप्येव जायते दर्शसंकरः ॥ ४१

संक्रमो नरकार्यैव कुलध्वानां कुलस्य च ।

पतन्ति पितरो येषां तुष्टविदोदकक्रियाः ॥ ४२

दोषैरेतैः कुलध्वानां वर्णसंकरकारकैः ।

उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शारदताः ॥ ४३

उत्तमनकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन ।

नरके नियतं शान्तो भवतीत्यनुशुभम् ॥ ४४

अहो कतं महत्पार्थ कतुं न्यवसितान्वयम् ।

यद्वाज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः ॥ ४५

यदि मामप्रतःकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः ।

पार्थराष्ट्रा भ्यो हन्तुस्तन्मे क्षेमतरं भवेत् ॥ ४६

संजय उवाच—

एवमुक्त्वाशुनिः संस्ये स्थोपस्थ उपनिवृद्ध ।

विहृज्य पशुरं चारं शो संविम्वमानतः ॥ ४७

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु अष्टाविंश्यां योगशान्ते

अध्याये श्रीकृष्णसंवादे श्रीकृष्णोपनिषदयोगो नाम

अष्टमोऽध्यायः ।



कुल नष्ट हुआ तो धर्म कहाँ अब धर्म गया तो पाव बढ़े ।
 नागी दूषित हो आयेगी बर्षों में बढ़वढ़ ध्यान बढ़े ॥४१॥
 बर्षों में बढ़वढ़ होने से, कुल सभी नरक में जाता है ।
 व्याकुल जित नर के पितर गये, कुल धातक वही कहाता है ॥४२॥
 जब बर्ष सभी बढ़वढ़ में हों तब में कुलधातक बढ़ आवें ।
 सब जातिधर्म कुल धर्म नये चरु महापाप को कैलावे ॥४३॥
 कुल धर्म सभी जब नष्ट हुआ दुख के बादल मंदराते हैं ।
 सुनते हैं ऐसे पापी नर सब ओर नरक में जाते हैं ॥ ४४ ॥
 इस राज्य सुत्रों के लोभी हम यह महापाप करने आवे ।
 अपने ही हाथों निज कुल की ध्रुव अथल कीर्ति हरने आवे ॥४५॥
 अब मेरा भला इसी में है मैं तब शस्त्र नहिं बार करूँ ।
 मुझ को यह वारें तो भी मैं इन का न कभी संहार करूँ ॥४६॥

संख्य बोला—

दोहा—अर्जुन ने युं वचन कह, तब दीन्हा धनु बाण ।
 अति उदात्त मन में हुआ, बैठा रथ में ध्यान ॥४७॥

पहला अध्याय समाप्त ।



अथ द्वितीयोऽध्यायः

संख्य उवाच

तं तथा कृपयाविष्टमथ पूर्णाहु लेखणम् ।
विशीदस्तमिदं वास्यद्गुहा च मधुसूदनः ॥ १

श्री भगवान् उवाच

कुतस्त्वा कस्मलमिदं विषमे हृद्गुहस्थिहरे ।
अनार्यलुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ॥ २
कलौष्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्स्वय्युपपद्यते ।
छुर्त्तुं हृदयदीर्घमयं त्यक्तवोत्तिष्ठ परन्तप ॥ ३

अर्जुन उवाच

कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन ।
इषुभिः प्रतियोत्स्यामिपूजार्हाविरिसूदन ॥ ४
गुरुनहत्वा हि महानुभावान्
श्रेयो मोक्षुं मैत्र्यमपीह लोके ।
हत्वार्थं कामांस्तु गुरुनिर्ह्व
बुद्धीय भोगान् रुधिरप्रदिग्धान् ॥ ५ ॥

दूसरा अध्याय (सांख्य योग)

संजय बोला—

‘‘ठीक अर्जुन जब यों उदास आसों में आसू भरें हुए ।
प्रति स्निग्ध चित्त उनका देखा मधुसूदन ने ये वचन कहे ॥१॥

श्री भगवान् ने कहा—

‘‘इस कठिन समय में हे अर्जुन ! क्यों कायरता दिखलाते हो ।
यह आर्यों को है उचित नहीं क्यों कुल में दाग लगाते हो ॥२॥
दोहा—सार्ध ! नकुसक मत बनो, तुमको यह न सुहाय ।
मन की दुर्बलता रजो, धनुष बाण लो हाथ ॥३॥

अर्जुन बोला—

अर्जुन बोला ‘‘हे कृष्ण ! क्या, कैसे गुरुओं को मारूँगा ।
हे भीष्म द्रोण अति पूजनीय, कैसे रण में संझारूँगा ॥४॥
इन पूज्य जनों के बध से तो,
मित्रा निर्वह कहीं अच्छा ।
युद्धों के रक्त मिले दूषित,
भोगों का भोग नहीं अच्छा ॥५॥

न चैतद्विषः कृतरक्षो मरीचो

यदा जपेत् यदि वा नो जपेत् ।

यानेव इत्वा न निन्दीदित्यतः—

सौख्यस्थिताः प्रहृष्टे चार्तवत्तूः ॥५॥

कार्पण्यं शोषेऽप्यत स्वभावः

वृच्छामि रयां धर्मसंसृज देहाः

यच्छेयः स्यान्नित्यं न हि तन्मे

शि यतोऽहं शपि मां त्वां प्रथमम् ॥६॥

न हि प्रपत्स्यामि मृतकान्मृतम्

यच्छेदं मुच्छोपशमिन्द्रियाणाम् ।

मनाप्य मृच्छेदस्तत्तन्मृच्छं

राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम् ॥ ७ ॥

संज्ञक उक्तम्—

एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुहाशुः परंतपः ।

न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूर्णविभूष ह ॥ ८ ॥

तद्गुहाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भास्त ।

सेनयोरुभयोर्मध्ये निरीदन्तमिदं वचः ॥ ९ ॥

श्री भगवान् उवाच—

कृच्छोपशान्त्यशोचस्त्वं प्रह्लावादांश्च भावसे ।

गताग्रजमताग्रं च नातुशोचन्ति परिहृताः ॥ १० ॥

वे जीतेंगे, या हम जीतेंगे,
 क्या दितकर है नहि जाना है ।
 नहि जिन्हें मार जीना चाहै,
 उन का वध करना है ॥६॥

कायरता मोह क्यों होकर,
 तब शिष्य पूछता है हम से ।
 निश्चय सम्मार्ग बताओ जो,
 दितकर हो विनय करूँ तुमसे ॥७॥

बन धाम्य युक्त निष्कण्टक मी,
 यदि देवों का अधिपत्य मिले ।
 साधन देता नहि दिलाता है,
 इन्द्रिय-शोषक जो तप इरे ॥८॥

राज्य-बोला—

रोहा—असुने तो यों वचन कद, बैठ रहा तुम पास ।
 नहीं सहंगा कृष्ण ! मैं, हुआ हूँ संताप ॥६॥
 सुन कर उस की बात की, कृष्ण दिये सुखाप ।
 सेनाओं के बीच में, बोले यह समुझाय ॥१०॥

श्री भगवान ने कहा—

तुम व्यर्थ बात का शोक करो यह बात परिदलों की करते ।
 विचित्रकृतक मनुष्यों का नहिं विदितशोककभी करते ॥११॥

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः ।

न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम् ।

देहि नोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा ।

तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुञ्चति ॥

समासः कर्तुं नीन्ते यः शीतोष्णदुःखदुःखदाः

ह्यप्युद्विग्नोऽपि स्यात्संविद्धिदश्च भारत ।

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषम् ।

समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥

नरसो विद्यते भावो

नाभावो विद्यते सतः ।

उभयोरपि दृष्टोऽन्त-

स्वप्नपोस्तत्पद्विभिः ॥१६॥

अविनाशो तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम् ।

विनाशमव्ययास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति ।

अवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिण्यः ।

चित्तेऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत ।

य एव हि चेति हन्तारं यश्चैनं मन्यते दतम् ।

उभौ न विजानीतौ नायं हन्ति न हन्यते ।

न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं

भूत्वा भविता वा न भूयः ।

- मैं भी तू भी, यह सभी सृष्टि, यहाँ पूर्व जन्म में आये थे ।
 २॥ अब भी मर कर आएंगे, फिर, जैसे वे पहले आये थे ॥१२॥
 जैसे इस तन में पाकूपन पीचन व सुदृषा आता है ।
 १॥ जैसे ही देह बदलती है, नहीं धीर कभी दुख पाता है ॥१३॥
 उर्दी, गर्मी की सुख दुख सब हैं इन्द्रिय गन्ध संयोग सखे ।
 ३॥ तुम इन को सहन करो अलुर्न हैं कण-अंशुर ये भोग सखे ॥१४॥
 दुख-दुख समान हैं जिस नर को उसको ये नहीं सताते हैं ।
 १॥ पुरुष ! धन्य हैं ऐसे नर वे परं धाम को पाते हैं ॥१५॥
 जेस का अस्तिरव नहीं होता उसका अभाव ही रहता है ।
 २॥ जो हृदय सत्य समासन है वह सदा जगत में रहता है ॥
 तनी पुरुषों की दोनों का यह तत्व समझ में आया है ।
 १॥ सत्य सत्य अरु असत् असत् मन में विश्वास जमाया है ॥१६॥
 तो व्यापक सारे जग में है अविनाशी वही कहाया है ।
 ३॥ आह अव्यय है, नर नष्ट उसे नहीं कोई भी कर पाया है ॥१७॥
 १॥ अमर निर्य जो आत्मा है उसकी यह देह विनाश है ।
 २॥ म करो गुह देखटके अब नहीं देह कोई अविनाशी है ॥१८॥
 तो आत्मा को हिसक जाने या रहे कि यह मारी जाने ।
 ३॥ दोनों ही अज्ञानी हैं यह अजर अमर नित कहलावे ॥१९॥
 दोहा—अजर अमर है आत्मा, इसकी यह पहिचान ।
 तन मारे मरता नहीं, शास्वत निर्य प्रपञ्च ॥

अतो नित्यः शास्वतोऽयं पुराणो

न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥२०॥

वेदाविनाशिर्न नित्यं य एनमजमन्ययम् ।

कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम् ।

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽप्य
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि ।

नैनं छिन्दति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ।

न चैनं कृदप्यन्तापो न शोषयति नाकतः ।

अच्छेद्योऽयमदाक्षोऽयमकृष्योऽशोष्यश्च च ।

नित्यः सर्वगतः स्थायुरचक्षोऽयं सनातनः ।

अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽवमाविकार्योऽयमुच्यते ।

तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हति

अथचैनं नित्यमाद्यं नित्यं वा मन्यसे मृतम् ।

तथापि त्वं महाबाहो नैनं शोचितुमर्हति

ज्ञातस्य हि भूयं मृत्युर्भूयं जन्म मृतस्य च

तस्मात्परिहारेऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हति

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भास्त ।

अव्यक्तानि धनान्येव तत्र का परिदेवना

आश्चर्य्यवत्पश्यति कश्चिदेनमाश्चर्य्यवद्ब्रूदति तथैव न

आश्चर्य्यवच्चैनमन्यः शोति भूत्याप्येनवेद न चैव कश्चि

यह आत्मा सदा अजन्मा है अरु कभी नहीं मरता है यह ।
 होकर, अदृश्य नहीं होता तन गिरे न पर गिरता है यह ॥२०॥
 अदिनाशी नित्य, अचर जिसको यह आत्मा अव्यय ज्ञान परे ।
 हे अर्जुन ! गोचो तनिक तुम्हीं कब कौन किसी के प्राण हरे २१
 जिस प्रकार तन जीर्ण वस्त्र प्राणी नित नये बदलता है ।
 इन भाँति पुनः देह त्याग आत्मा नव देह बदलता है ॥२२॥
 शस्त्रों से नहीं कटे देही, नहि आग जला सकती इसको ।
 जलमें नहि शक्ति जलाने की, नहि पवन उड़ा सकती इसको २३
 यह कटे नहीं यह जले नहीं, अरु मले नहीं, नहि शुष्क रहे ।
 है नित्य, अचल सब जीवोंमें पुनि सत्य, सनातन, अटल रहे ॥२४॥
 नहि ज्ञान इन्द्रियाँ इसे सकें, मन में भी सोच नहीं पाते ।
 इस कायज ज्ञान इसे ऐसा विद्वान् भला कब दुख पाते ॥२५॥
 पर यदि तू ऐसा भी माने, लेता है जन्म मरेगा भी ।
 फिर भी नहि शोक उचित, तुमको जो लेगा जन्म मरेगा भी २६
 दोहा—जो जन्मा है वह मरे, भरा जन्म फिर लेत ।
 अपना वश चलता नहीं, क्यों मन को दुख देत ॥२७॥
 पहले क्षम्यत रहे प्राणी जीवन में प्रवृत्त दिखाते हैं ।
 अदृश्य पुनः मरने पर हो, फिर क्यों यह शोक मन्वते हैं ॥२८॥
 हैरानी से देखें इसको, कुछ चकित हुए गुण मान करें ।
 पुनि कोई तुने अह्न तवर्ज्य, सुनकर भी नहि पहिचान करें ॥२९॥

देही नित्यमवश्योऽयं देहे सर्वस्य भावत ।
 तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शीघ्रिहर्षसि
 स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विहस्यितुमर्हसि ।
 धर्म्यादि बुद्ध्याच्छेदोऽन्यत् क्षत्रियस्य न विद्यते
 यदृच्छया 'चोचरन्' स्वर्गद्वारमपाचूतम् ।
 सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ समन्ते बुद्धमीदृशम्
 अथ चेत्त्वमिमं धर्मं संग्रामं न कम्प्यसि ।
 ततः स्वधर्मं कीर्त्तय हिरवा पापमहाप्स्यसि
 अकीर्त्तिश्चानि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽप्यसौ
 सम्भावितस्य चाकीर्त्तिर्महादतिरिच्यते
 अथात्राद्यादुक्तरं मंस्यन्ते त्वां महारथाः ।
 येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम्
 अवाध्यवादाश्च बहून्वदिष्यन्ति तदाहितः ।
 निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं तु किम्
 द्रुतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भौज्यसे मही
 तस्मादुचिष्टं कीन्तेव, बुद्धाय कृतमिच्छयः ।
 द्रुतद्रुच्छे समे कृत्वा लाभालाभी जयावधौ ।
 ततो बुद्धाय पुण्यस्य नैवं पापमहाप्स्यसि ।
 एषा वैधर्महिता सांख्ये बुद्धियोगे त्विमां मृगु
 बुद्ध्या बुक्को यथा पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि ।

हे अर्जुन ! तब मैं देखी है वह नहीं कभी मारी जाये ।
सब जीवों में तू यही मान नहि उचित शोक मन में लाये ॥३०॥

दोहा—देख तनिक निज धर्म को, होना तू निर्भीक ।

धर्म दुष्ट करना सदा, क्षत्रिय को है ठीक ॥३१॥

है स्वर्ग द्वार यह रात सुता रेखा सुन्दर अवतर आया ।

है इस प्रकार का धर्म दुष्ट विरले ही क्षत्रिय ने पाया ॥३२॥

इस धर्म दुष्ट मैं भी अर्जुन ! यदि पीछे कदम हटावेगा ।

निज धर्म गर्वी अवश्य पावे, जग में वापी कदलावेगा ॥३३॥

मर तुझे निरादर से देखें अर्जुन ! यह बात नहीं अच्छी ।

अति माननीय सजन को तो, अवश्य से मौत कहीं अच्छी ॥३४॥

‘‘रथ से वह डर कर भाग गया, सब महारथी उबारेंगे ।

जो करते जय सम्मान तेरा, कायर ने तुझे पुकारेंगे ॥३५॥

निन्दा बहु भाति करें तेरी, तेरे अनहित के वचन कहें ।

हीनी दूषित सामर्थ्य तेरी, मानी जन कम यह बात सदै ॥३६॥

रथ में मर कर तो स्वर्ग मिले, जाता दृष्टी को भोगेगा ।

है कुन्ती सुत ! उठ लड़ने को वह काटेगा जो बोवेगा ॥३७॥

दोहा—हानि, लाभ, जय, हार को सुख, दुःख को सम जान ।

नहीं पाप हुकमो लगे, दुष्ट करे अत मान ॥३८॥

हे पार्थ ! बताया ज्ञान योग, अब कर्म योग बतलाते हैं ।

इस कर्म योग द्वारा प्राप्ती हुः कर्मकाश से जाते हैं ॥ ३८

नेहाविक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते
 स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य शान्ते महतो भयाः
 व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन
 बहुशास्त्रा अनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्
 यामिमां पुष्पितां वाचं

प्रवदन्त्यविश्वितः ।

वेदवादस्ताः पार्थ

नान्यदस्तीति वादिनः ॥४२॥

कामात्मानः स्वर्गपथं जन्मकर्मफलप्रदाम् ।
 क्रियाविशेषबहुलां भोगैस्त्वर्ग्यमतिप्रति
 भोगैस्त्वर्ग्यं प्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम् ।
 व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते
 त्रैशुष्यविषया वेदा

निस्त्रैशुष्यो बवाशुर्न ।

निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्यो

निर्योगक्षेम आत्मवान् ॥४३॥

पाषाणस्य उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके ।
 शयान् सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः
 कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
 मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संसोऽस्त्वकर्मणि

जो किया, नहीं मिटती इस से अरु पाप अंतर नहि करता है ।
 इसका थोड़ा भी ज्ञान सखे ! बहु भय से रचा करता है ॥४०॥
 रद निधय वाले की प्रतिभा कुरुनन्दन ! एक कहाती है ।
 पर जिसकी बुद्धि अनिश्चित हो बहुशास्ता वह बन जाती है ॥४१॥
 जो सूरस्य हैं अरु काशी हैं वस वेद वेद चिन्ताते हैं ।
 वे स्वर्ग परायण होते हैं पर वेद समझ नहि पाते हैं ॥
 “कुछ और नहीं” यह कहते हैं ऐसी वाणी बतलाते हैं ।
 फल पुक्त कर्म का मान करें, अरु जन्म अनेकों पाते हैं ॥४२॥
 ऐश्वर्य भोगे देने वाली अनमिनत क्रियाएँ करते हैं ।
 बहु विषय भोग में फँसे हुए नर अष्टचिह्न को करते हैं ॥४३॥
 पुनि बुद्धि अनिश्चित होने पर वे चंचल-चित्त हो जाते हैं ।
 मन भले काम में लगे नहीं, प्रभु ध्यान लगा नहि पाते हैं ॥४४॥

दोहा—वेदों के सब विषय हैं, तीन गुणों से युक्त ।

इन विषयों के संग से, हो जा अर्जुन युक्त ॥

सत्य बात में मन लगा, बन जा आत्मावान ।

पाना और संभालना, छोड़ सभी अनजान ॥ ४५॥

सुविशाल जलाशय के आगे मोड़द क्या हस्ती रखता है ।

तिमि नाकस्य नखनन्द पाप वेदों की चाहन करता है ॥४६॥

अधिकार कर्म में है तेरा वश में तेरे परिग्राम नहीं ।

कारण फल का मत बनो मगर ठाली रहनेका कब नहीं ॥४७॥

योगस्यः कुरु कर्माणि संयं त्यक्त्वा धनंजय ।
 सिद्धयसिद्धयोः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते
 दूरेण सारं कर्म बुद्धियोगाद्जनय ॥
 बुद्धी शरत्कर्षान्विच्छ कृपयाः कलहेतवः ।
 बुद्धिः को जहातीह
 उभे सुकृतदुष्कृते ।
 तस्माद्योगाय युज्यस्व
 योगः कर्मसु कौशलम् ॥३८॥

कर्मजं बुद्धि युक्तादि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः ।
 जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः परं गच्छन्त्यनामयम् ।
 यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति ।
 तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥
 श्रुति विप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला ।
 समाधायचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ॥

अधुना उवाच

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव ।
 स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत् ब्रजेत किम् ॥३९॥

श्री भगवान्न उवाच

ब्रजहाति यदा कामान्तर्हन्त्यार्थं मनोयतान् ।
 आत्मन्येवात्माना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥४०॥

योगी बन कर्म करो अर्जुन आसक्त न इसमें हो जाओ ।
 तुम हार जीत को सम जानो समता है योग समझ जाओ ॥४८॥
 जो कर्म कामना से होता उससे है योग कहीं अच्छा ।
 इस बुद्धि योगकी शरणा पकड़ फल झ है योग नहीं अच्छा ॥४९॥
 वस रही कर्म है योग सदा जो चतुर्गई से मुक्त हुआ ।
 समता को जिसने जान लिया वदपाव पुण्य से मुक्त हुआ ॥
 मन में समता को धारण कर निज कर्म निपुणता से करना ।
 अरु कर्म योग को करो अग्न बन्धनमें नहिं चाहो पड़ना ॥५०॥
 फल प्राप्त कर्म से जो होता जानी उस को तज देते हैं ।
 या जन्म मरण से छुटकारा वह मुक्ति सदा या लेते हैं ॥५१॥
 मोहों की दलदल से जब यह तेरी मति पार चली जावे ।
 जो सुनना है, या सुना अभी, उस धीरे उदासी हो जावे ॥५२॥
 मति भ्रांत हुई है सुनने से, जब यह निश्चल हो जावेगी ।
 तब अचल समाधिमें रह कर फिर वह समता को पावेगी ॥५३॥

अर्जुन ने प्रश्न किया—

स्थित मति का लक्षण क्या होताओ जो समाधिस्थ होजाता है ।
 श्रीकृष्ण ! कहो कैसे बोलें, बैठे, वह कैसे जाता है ॥५४॥

श्री भगवान बोले—

मन के संकल्पों को तजकर जो नित प्रसन्न हो रहते हैं ।
 हे अर्जुन ! उसको ज्ञानीजन स्थित प्रज्ञ सदा ही कहते हैं ॥५५॥

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।
 बीतशममयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ।
 यः सर्वज्ञानमिन्द्रेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम् ।
 नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ।
 यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गुलीव सर्वशः ।
 इन्द्रियास्तोन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ।
 विषया विनिवर्तन्ते
 निराहारस्य देहिनः ।
 सत्पते स्तोऽप्यस्य
 परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥५६॥

यततो ह्यपि बीम्लेष पुरुषस्य विपरिचयः ।
 इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ।
 तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः ।
 वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ।
 व्यापतो विषयान्बुधः संगस्तेषूपजायते ।
 संग्मात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ।
 क्रोधाद्भवति समोदः संभोदात्सृजति निधमः ।
 सृतिश्चाश्वाद् बुद्धिनामो बुद्धिनाशात्प्रसरति ।
 यम इषेचिमुक्तैस्तु विषयानिद्विवेचन ।
 आत्मवत्सर्वविधेवात्मा प्रसादमभिवन्द्यति ॥ ६

कष्टों से नहीं विकल होते इच्छा न सुखी की है जिनको ।
 भय राग क्रोध से अलग रहे कहते स्थित-प्रज्ञ सभी तिनको ॥५६॥
 जो राग रहित होकर जग में शुभ पाप प्रसन्न नहीं होता ।
 अरु पाप अशुभ निधित रहे, स्थिर-बुद्धि मनुष्य वही होता ॥५७॥
 जिसि कदुआ अंग सुकेदे है तिमि जो विषयों से दृढ जाते ।
 जो इन्द्रिय को बश में करते स्थिर-बुद्धि पुरुष है कहलाते ॥५८॥
 बोधा-दृढ बश यदि भोजन लगे, विषय दूर हो जाय ।
 राग नहीं मिटता मगर, प्रहृ दर्शन से जाय ॥
 दृढ बश जो भोजन को त्यागे वह विषय दूर कर लेता है ।
 पर राग बना ही रहता है प्रहृ-दर्श उसे हर लेता है ॥५९॥
 जिससे बहु यत्न किये पर भी ज्ञानी जन है बचरा जाते ।
 बलवान इन्द्रियों के द्वारा निज मन को वह स्थिरता पाते ॥६०॥
 उन सबको तुम बश में करके हृम्भ में भ्रष्टा उत्पन्न करो ।
 मन जीत लिया जिसने जग में स्थित-प्रज्ञ उसी का नाम परो ॥६१॥
 विषयों का चिन्तन करने से आसक्ति उन्हीं में होती है ।
 बुद्धि आसक्ती से इच्छा हो, वह बीज क्रोध का बोली है ॥६२॥
 फिर क्रोध मोह की उपजावा जो सुधि को दूर भगाता है ।
 सुधि खोय बुद्धि जाती रहती, मति हीन नष्ट हो जाता है ॥६३॥
 लज राग द्वेष का भाव अमर प्राणी विषयों को भोगेगा ।
 ऐसा स्वाधीन बशी नर ही जग में अविचल सुख को लेगा ॥६४॥

प्रसादे सर्वदुःस्वार्ता इतिरस्योत्पन्नान्ते ।
 प्रसन्नचेतसो आशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥ ६१
 नास्ति बुद्धियुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना ।
 न चाभावयतः शनतिरहोत्स्य कुतः सुखम् ॥ ६२
 इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मतेऽस्तुदिधीयते ।
 तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ॥ ६३
 तस्माद्यस्य महाबाहो निवृद्धीतानि सर्वशः ।
 इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ६४
 या निश्चा सर्व भूतानां तस्यां जायति संयमी ।
 यस्यां जायतिभूतानि सा निश्चा परमतो मुनेः ॥ ६५

आपूर्णमायमक्षप्रतिष्ठं समुद्रमायः प्रविशन्ति पद्भ्य
 तद्भ्यश्चानाद्यप्रविशन्तिर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ॥

विहाय कामान्यः सर्वान्मुमांश्चरति निःस्पृहः ।
 निर्ममो निर्विकारः स शान्तिमधिगच्छति ॥ ७१
 एषा ब्राह्मो स्थितिः पार्व नैनां प्राप्य विमुह्यति ।
 स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमुच्छति ॥ ७२

इति श्रीमद्भगवद्गीता सूफनिकसु ब्रह्मविद्यायां योग शास्त्रे

श्री कृष्णार्जुन संवादेऽर्जुन संख्य योगो

नाम द्वितीयोऽध्यायः ।



पाकर कूट से कूट कर नर अपने सब कष्ट मिटाता है ।
 वह रहे प्रसन्न मन में स्थिर-बुद्धि बड़ी कलहाता है ॥६५॥
 है बुद्धि हीन नर योग रहित अरु भक्ति भाव से दूर रहे ।
 वह शान्ति कभी नहि पाता है अरु दुःखों से भरपूर रहे ॥६६॥
 जो जल में बहती नाव उसे जिमि पवन स्वीच से जाती है ।
 जिस इन्द्रिय का मन दास रहे वह प्रज्ञा हीन बनाती है ॥
 दोहा—इन्द्रिय मन के बस नहीं, मन उसके आधीन ।

पराधीन मन, पुरुष का, करता है मति हीन ॥६७॥
 इसलिये महा बाहो ! यश में इन्द्रियां जमी कर पाओगे ।
 सब विषयों से तुम दूर रहो स्थित प्रज्ञ तभी चढ़ाओगे ॥६८॥
 सब प्राणी जिसको पत कहे संघम बाला जाने उस में ।
 जिस वक्त जागते लोग सभी बुनि जानी सो जाये उसमें ॥६९॥
 जल से परिपूरित सामर में नदियां प्रवेश कर पाती हैं ।
 उस अचल प्रतिष्ठा वाले को चञ्चल नहि कभी बनाती हैं ॥
 बस इसी तरह इच्छार्थ भी जिस नर में ज्ञान समाता है ।
 जग में सुख पाता है न कि वह इच्छार्थ जिसे सताती है ॥७०॥
 बेलाय त्याग इच्छार्थों को जो समझ पात न रसता है ।
 हो अहंकार का लेश नहीं सुख का बीड़ा फल चलाता है ॥७१॥
 दोहा—बाझी स्थिति है पार्थ, यह इससे भेद न होय ।

अन्त समय पाकर इसे लीन प्रज्ञ में होय ॥७२॥

सांख्य योग नाम का दूसरा अध्याय समाप्त ।

अथ तृतीयोऽध्यायः कर्मयोग ।

अर्जुन उवाच

उपायसी वैत्कर्मशस्ते मया बुद्धिर्वनार्दन ।
तल्लिङ्गं कर्मसि धीरे मां नियोजयसि केशव ॥१॥
व्यामिश्रेणेन वाक्येन बुद्धिं मोहयसीध मे ।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽद्वयमाप्नुयाम् ॥२॥

श्री भगवान्—उवाच

शौक्येऽरिमन्त्रिविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयाऽनघ ।
ज्ञानयोगेन सांख्येन च कर्मयोगेन योगिनाम् ॥३॥
न कर्मणामनारम्भाच्चैश्वर्यं पुरुषोऽस्तुते ।
न च सन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ॥४॥
न हि कश्चित् क्षणमपि जातु विष्टत्यकर्मकृत् ।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥५॥
कर्मैन्द्रियाणि संयम्य यः क्षास्ते मनसा स्मरन् ।
इन्द्रियाणि निबृज्यात्मा विष्याचारः स उपयते ॥६॥
यस्तिस्रिधासि संयम्य यः क्षास्ते मनसा स्मरन् ।
कर्मैन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ॥७॥

तीसरा अध्याय (कर्म-योग)



अर्जुन ने पूछा—

अर्जुन बोला “यदि कर्म योग से बुद्धि योग अच्छा जानो ।
तो राज में मुझसे अति कठोर यह कर्म कराना क्यों ठानो ॥१॥
अब कुछ कहते, फिर कुछ कहते, क्यों भ्रम में मुझको रखते हो ।
निश्चय पूर्वक एक बात कहो कल्याण मेरा अब जिससे हो” ॥२॥

श्री भगवान ने कहा—

बोले माधव “पहिले मैंने दो मार्ग बताये हैं तुम को ।
इस सांख्यों का है ज्ञान योग अरु कर्मयोग योगी जन को ॥३॥
कुछ कर्म न करने से केवल कोई निष्कर्म नहीं होता ।
अरु कर्म त्याग कर के भी नर बन्धन से मुक्त नहीं होता ॥४॥
देखो कोई भी नर जग में बिन कर्म नहीं रह सकता है ।
सब कर्म करें बेवस होकर मुख प्रकृति का कष टलता है ॥५॥
हठ करके नर यदि ऊपर से भोगों को दूर हटाता है ।
पर मन में विन्तन करता है वह पाखण्डी कहलाता है ॥६॥
निज इन्द्रिय को वश में करके जो कर्म योग में लगे रहे ।
हो कर्मों में आसक्त नहीं, उनको ज्ञानी जन श्रेष्ठ कहे ॥७॥

निपतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मतः ।
 शरीरयाचानि च ते न प्रसिद्ध्योदकर्मणः ॥
 एतान्कर्तुं ह्येतांस्तान् कर्मयोगं लोको जयति ।
 तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसंगः समाचर ॥
 सहस्राः प्रजाः सृष्ट्वा पुनोवाच प्रजापतिः ।
 अनेन प्रसविष्यन्ममैव वोऽस्तिष्यदकामयुक् ॥१॥
 देवान्मातरसानेन

ते देवा दास्यन्तु यः ।

परस्परं दास्यन्तुः

अथैव परमोवाच ॥१॥
 इष्टान्मोक्षान्नि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः ।
 तैर्विद्यां प्रदायैभ्यो वो हव्यं स्तेन एव सः ॥१॥
 यद्रिष्टाग्निः सन्तो मुच्यन्ते सर्वस्मिन्विधैः ।
 ब्रह्मते ते स्वर्गं वापि ये यथन्त्यात्मकारणात् ॥२॥
 अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादक्षसम्भवः ।
 यद्वाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥३॥
 कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माचरसमुद्भवम् ।
 तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥४॥

एवं प्रवर्तितं चक्रं

नानुवर्तयतीह यः ।

नहिं करने से करना अच्छा तुम उच्च कर्म करो अर्जुन ।।

विनकर्म बरे निर्वाह नहीं निव जीवन सकल करो अर्जुन ।।१०।।

जो कर्म लोकहित होते हैं उनमें कन्यन का लेश नहीं ।

वह कर्म 'यज्ञ' कहलाते हैं हो उनमें राम अरु द्वेष नहीं ।।११।।

जब प्रजा बनाई ईश्वर ने यज्ञों को साथ बनाया था ।

यज्ञों से खूब फलो फुलो आदेश यही बतलाया था ।।

दोहा—“लोगों के कल्याण हित, दीन्हा यज्ञ बनाय ।

इच्छा पूरी यज्ञ से, तुम सब की हो जाय ।।१२।।

यज्ञों से देव बड़ाओ तुम फिर देव बड़ावेगे तुम को ।

एत भांति करो उन्नति दोनों, तुम उन्हें बड़ाओ, वे तुमको ।।१३।।

जब देव तृप्त हों यज्ञों से दोगे वह इष्ट पदार्थ तुम्हें ।

यदि लाया उनको बिना दिये तो चोर कहेंगे सभी तुम्हें ।।१४।।

यज्ञों से बचा हुआ लावे वह सन्त पाप से छुट जाते ।

हो अपने लिये बचाते हैं पापी हैं, पाप निरा लाते ।।१५।।

यज्ञों से प्राप्ती होते हैं, वर्षा से अन्न उपजता है ।

यज्ञों से वर्षा होती है, पुनि यज्ञ कर्म से सजता है ।।१६।।

है कर्म बलवाना वेदों में अरु वेद बनाये ईश्वर ने ।

यह भक्ति करो यज्ञों से तुम यदि यज्ञ लगे हो तुम करने ।।१७।।

त चकर के पीछे जो नर नहिं उचित रूप से चलता है ।

है पापी इन्द्रिय बश होकर बेकाय जगत् में चलता है ।।

अथापुनिन्द्रियायमो

मोर्धं पार्थ स जीवति ॥१६॥

यस्त्वात्ममरतिरेव स्यादात्मतत्त्वस्य मानवः ।
 आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य 'कार्यं' न विद्यते ॥१॥
 नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कथन ।
 न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्ध्वपाश्र्वयः ॥१॥
 तस्मादहकः सततं 'कार्यं' कर्म समाचर ।
 असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥१॥
 कर्मयैव हि संतिष्ठिमास्थिता जनकादयः ।
 लोभतः प्रदमेवानि संपरयद् कर्तुमर्हति ॥२॥
 यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेतरो जनः ।
 स परमार्थं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥२॥
 न मे पार्थास्ति कर्त्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन ।
 ज्ञानवाद्भक्त्याह्वयं वर्त एव च कर्मणि ॥२॥
 यदि क्वहं न वर्तेयं जातुकर्मण्यतन्द्रितः ।
 मम कर्त्तव्यं तु यन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥२॥
 उदसीदेषु रिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम् ।
 संकस्य च कर्ता स्यात्पुण्ड्रन्यामिमाः प्रजाः ॥२॥
 सक्ताः कर्मण्यपि ह्यसौ यथा कुर्वन्ति भारत ।
 कुर्याद्विद्वांसश्चाह कथित्रीषु लोभसंग्रहम् ॥३॥

दोहा—अनुकूल इस चक्र के, जो न करे व्यवहार ।

ऐसे पापी नीच का, जीना है बेकार ॥१६॥

आत्मा से प्रेम करे जो नर अरु आत्मा से संतुष्ट रहे ।

आत्मा में तुम अगर है बड़, उसको जग में नहिं कार्य रहे ॥१७॥

बड़ कर्म करे या नहीं करे कुछ भेद नहीं दिसलाता है ।

कारण, उस नरका लोगों से नहिं तनिक स्वार्थ का नाता है ॥१८॥

इसलिये सदा आसक्ति बिना कर्षण्य कर्म करते जाओ ।

निर्लेप कर्म के करने से निश्चय से प्रज्ञा को पाओ ॥१९॥

निष्काम कर्म के द्वारा ही जनकादिक ने सिद्धो पाई ।

लोगों को साथ चलाने को है कर्म तुम्हें करना भाई ॥२०॥

जो कुछ भी महापुरुष करते बड़ कार्य सभी नर करते हैं ।

जैसा बड़ मार्ग दिखाते हैं सब पैर उन्ही पर चरते हैं ॥२१॥

तुम्हको कुछ भी आप्राप्य नहीं इन तीनों लोकों में अर्जुन ! ।

कुछ कर्म नहीं करना तुम्हको तो भी नित कर्म करूँ से सुन ॥२२॥

यदि सावधान होकर मैं भी नहिं कर्म करूँ जग में अचिरत्न ।

सब लोग चले मेरे पीछे अरु त्यागें कर्म, बनें निश्चल ॥२३॥

जग में हो भारी उबल पुबल निष्कर्म अगर मैं हो जाऊँ ।

वर्णों में गड़बड़ हो जावे लोगों का घातक कदलाऊँ ॥२४॥

अज्ञानी जन अनुक्त हुए नित कर्म अनेकों करते हैं ।

पर-जन-हित ज्ञानी कर्म करें आसक्ति न उसमें धरते हैं ॥२५॥

शोश-—अनुष्ठान इस चक्र के, जो न करे व्यवहार ।

ऐसे पापी नीच का, जीना है बेकार ॥१६॥

आत्मा से प्रेम करे जो नर अह आत्मा से संतुष्ट रहे ।

आत्मा में तुम अगर है बड़, उसको जग में नहिं कार्य रहे ॥१७॥

बड़ कर्म करे या नहीं करे कुछ भेद नहीं दिखलाता है ।

कारण, उस मर्यादा लोगों से नहिं तनिक स्वार्थ का नाश है ॥१८॥

इसलिये सदा आसक्ति बिना कर्त्तव्य कर्म करते जाओ ।

मिलें कर्म के करने से निश्चय से ब्रह्मा को पाओ ॥१९॥

निष्काम कर्म के द्वारा ही जनकदिक ने सिद्धी पाई ।

लोगों को साथ चलाने को है कर्म तुम्हें करना भाई ॥२०॥

जो कुछ भी महापुरुष करते वह कार्य सभी नर करते हैं ।

जैसा वह मार्ग दिखाते हैं सब पैर उसी पर धरते हैं ॥२१॥

सुनको कुछ भी आश्रय नहीं इन तीनों लोकों में अहर्निश ।

कुछ कर्म नहीं करना सुनको तो भी नित कर्म करूं लेतुन ॥२२॥

यदि सावधान होकर मैं भी नहिं कर्म करूं जग में अधिरक्ष ।

मय लोग चले मेरे पीछे अह त्यागें कर्म, वने निश्चल ॥२३॥

जग में हो भारी उबल पुथल निष्कर्म अगर मैं हो जाऊँ ।

वर्षों में गढ़बढ़ हो जावे लोगों का घातक बड़साऊँ ॥२४॥

अज्ञानी जन अनुरक्त हुए नित कर्म करनेको करते हैं ।

पर-जन-हित ज्ञानी कर्म करें आसक्ति न उसमें धरते हैं ॥२५॥

न बुद्धिमेदं ज्ञानये-

दक्षानां कर्तृकृतिनाम् ।

शेषैस्तत्सर्वकर्मणि

विद्वान्युक्तः समाचक्षन् ॥२६॥

प्रकृतेः क्रियमाद्यानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।

अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥२७॥

तत्त्वविद् महाबाहो ! गुणकर्मविभागयोः ।

गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते ॥२८॥

प्रकृतेर्गुणसंभूता सज्जन्ते गुणकर्मसु ।

तानकृत्स्नविदो मन्दान्कृत्स्नविद्य विचालयेत् ॥२९॥

अपि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा ।

निराशीर्निर्ममो भूत्वा गुण्यस्व विगतज्वरः ॥३०॥

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः ।

श्रद्धावन्तोऽनश्वरन्तो भूष्यन्ते तैऽपि कर्मभिः ॥३१॥

ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम् ।

सर्वज्ञानविमूढास्तान्विद्धि कष्टानवेततः ॥३२॥

सर्वशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि ।

प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ॥३३॥

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ ।

तयोर्न वशमाचखेत्तौ तस्य परिशन्धिनी ॥३४॥

मति भेद करे जो मूर्ख में यह ज्ञानी जन को उचित नहीं ।

शुभ कर्म कराना ही अच्छा मति भ्रम में डाले उचित नहीं ॥

दोहा-ज्ञानी जब को चाहिये, करे नहीं मति भ्रष्ट ।

भले कर्म करता हुआ, मार्ग दिखावे स्पष्ट ॥२६॥

सब कर्म मनुष्यों से प्रकृति नित अपने आप कराती है ।

यह अभिमानी जनता लेकिन कर्ता निज को बतलाती है ॥२७॥

गुण कर्म भेद का जो ज्ञाता निर्लेप सदा ही रहता है ।

गुण बसते हैं गुण में जाने, नहि साथ गुणों के बहता है ॥२८॥

जो प्रकृति-गुणों में लीन हुआ, गुण और कर्म में लित रहे ।

ऐसे अज्ञानी मूर्ख को नहि ज्ञानी आत्मक बचन कहे ॥२९॥

हो शुद्ध और आप्यात्म चित सब कर्म मुझे अर्पण कर दो ।

ममता आशा को त्याग सखे संताप रहित हो शुद्ध करो ॥३०॥

अज्ञा से दोष रहित होकर जो मेरे मत पर हैं अड़ते ।

निश्चय से वह नर कर्मों के बन्धन में कभी नहीं पड़ते ॥३१॥

पर दोष शुक्त हो अज्ञानी मेरा उपदेश नहीं मानें ।

उनका कल्याण नहीं होता सब भ्रष्ट हुआ उनकी जाने ॥३२॥

ज्ञानी जन भी देखो अपनी श्रुती अनुकूल कर्म करते ।

फिर निग्रह से क्या होता है जब सारे हो ऐसा करते ॥३३॥

इन्द्रिय में ठहरे राग द्वेष को जड़ से दूर बगाओ तुम ।

यह उल्टी राह दिखाते हैं वश में इनके मत आओ तुम ॥३४॥

श्रेयान्स्वधर्मो विमुक्तः

परधर्मस्त्वलुप्तिदाम् ।

स्वधर्मो निधनं श्रेयः

परधर्मो मयावहः ॥३५॥

अर्जुन उवाच

अथ केन प्रमुक्तोऽयं पार्थ परति पूरुषः ।

अनिच्छन्मपि कान्क्षेय क्लान्तिव निमोजितः ॥३६॥

श्री मन्त्रवान उवाच

काम एव क्रोध एव रजोगुणतमुद्भवः ।

महाशुभो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥३७॥

भूमेनाविपते बन्धिर्हयश्चन्द्रशो मलेन च ।

यथोन्मेषेनावृष्टो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ॥३८॥

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा ।

कामरूपेण बीजन्ते य दृष्परेणानलेन च ॥३९॥

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते ।

एतैर्विबोध्यत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम् ॥४०॥

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ निपम्य यत्तर्जय ।

पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥४१॥

होते—अन्य जनों का धर्म उच्च, यद्यपि होवे ठीक ।
 दोष-युक्त निज धर्म भी, है उच्चम अरु नीच ॥
 इस में मरना है मत्ता, अन्य धर्म मर-युक्त ।
 अपने २ धर्म में, रहना है उपयुक्त ॥३४॥

अर्जुन ने प्रश्न किया—

अर्जुन ने पूछा “हे भगवन ! यह पाप बोन करवाता है ।
 जो नहीं चाहने पर भी नर बल पूर्वक खींचा जाता है ॥३५॥

श्रीकृष्ण का उत्तर—

माधव बोले “यह काम क्रोध जो स्वदुष्ट से पैदा होते ।
 अतिमशी है, अति पापी हैं यह नर की मति को हैं खाते ॥३५॥
 हे आग भूज से दिशि हुई दर्पण ज्यूं मल से दूक जाता ।
 ज्यूं धर्म जग में रहता है त्यूं “काम”मनों पर छा जाता ॥३६॥
 ज्ञानी का ज्ञान इका इस ने यह हृत्त जमी नहि होता है ।
 यह वैधे है अरु अग्नि तुल्य सा साकर ऊँचा होता है ॥३७॥
 मन इन्द्रिय मेधा को इसके रहने का स्थान सदा जानो ।
 स्मरण के ज्ञान इन्हीं द्वारा आत्मा को मूढ़ किया मानो ॥३८॥
 इन्द्रिय को यश में कर अर्जुन ! इस पापी को तुम दूर करो ।
 विज्ञान ज्ञान को नष्ट करे यह, इसको चक्रनाचूर करो ॥३९॥

इन्द्रियाणि परमाणादुचिन्तिहेम्यः परं मनः ।
 मनसस्तु परा बुद्धिर्गो बुद्धेः परस्तस्तु सः ॥५॥
 एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना ।
 जदि शत्रं मयाचक्षो कामरूपं दुष्टादिदम् ॥६॥
 इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु अष्टाविंशोऽध्याये
 श्रीकृष्णार्जुनसंवादे कर्मयोगो नाम तृतीयोऽध्यायः ॥



इन्द्रियां सूक्ष्म हैं इस तन से, मन सूक्ष्म देह से तुम जानो ।
हैं बुद्धि सूक्ष्म पुनि मन से भी आत्मा को सूक्ष्मतम मानो ॥४२॥

इस आत्मा को अति सूक्ष्म और बलवान् श्रेष्ठ तू जान सखे ! ।
मन को अपने वश में करले, करसदा काम बलिदान सखे ॥४३॥

दोहा—आत्मा हैं मति से परे, कर इसकी पहिचान ।
मन को वश में कर सदा, करे काम बलिदान ॥

धर्म योग नाम का तृतीय अध्याय समाप्त ।



अथ चतुर्थोऽध्यायः ।

श्री भगवान् उवाच—

इमं विवस्वतो योमं प्रोक्तवानहमव्ययम् ।
विषस्वान्मनवे प्राह मत्पुरित्वाकवेऽज्यवीन् ॥१॥
एषं परमं प्राहमिमं राजर्षयो विदुः ।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतप ॥२॥
स एवार्थं मया तेऽयं योगः प्रोक्तः पुनतनः ।
मक्ताऽसि मे सखा चेति रहस्यं श्रुतदुत्तमम् ॥३॥

अर्जुनेन उवाच ।

अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः ।
कथमेतद्विजानीयां स्वमादी प्रोक्तवानिति ॥४॥

श्री भगवान् उवाच ।

बहूनि मे ज्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन ।
तान्यहं वेद्मि सर्वाणि न त्वं वेत्स्य परंतप ॥५॥
अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानमीश्वरोऽपि सन् ।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया ॥६॥

चौथा अध्याय (ज्ञान कर्म सन्यास योग)

—००—

भगवान् बोले—

पहले यह योग विवस्वत् को मैंने अर्जुन ! बतलाया था ।
उसने दीन्हां मनु को जिसने इच्छाकू को समझाया था ॥१॥
इस परम्परा से प्राप्त हुआ ऋषियों ने इसको ज्ञान लिया ।
पर समय बीतने पर इसको बस नष्ट हुआ ही मान लिया ॥२॥
फिर वही पुराना योग तुम्हें अर्जुन ! मैंने बतलाया है ।
मम भक्त मित्र तू प्यास है दितकर उपदेश सुनाया है ॥३॥

अर्जुन बोला—

अर्जुन बोला तुम अब जन्मे सूरज का जन्म पुराना है ।
उसको यह योग बतलाया था यह कठिन समझ में आना है ॥४॥

श्रीकृष्ण का उत्तर—

अर्जुन ! बीते बहुत जन्म तेरे मैंने भी जन्म बहुत पाये ।
मैं तो उन सबका ज्ञाता हूँ पर तुम्हको नहीं समझ आये ॥५॥
अविनाश-स्वरूप अचन्मा हूँ सब भूतों का हूँ ईश सबे ।
मैं प्रगट अगस्त में होता हूँ निज प्रकृति को वश में करके ॥६॥

यदा यदा हि धर्मस्य म्लानिर्भवति भारत ।

अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥७॥

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।

धर्मतरङ्गापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥८॥

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः ।

त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्हन् ॥९॥

वीतरागभयक्रोधा बन्ध्या मादुष्टाश्रिताः ।

बह्वो ज्ञानतपसा पूजा मद्भावमागताः ॥१०॥

ये यदा सां ऋषयन्ते तांस्तथैव ब्रह्मण्यहम् ।

मम धर्मात्पुनर्जन्तो मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥११॥

काङ्क्षन्तः कर्मणां सिद्धिं

यजन्त इह देवताः ।

धिर्म हि मातुषे लोके

सिद्धिर्भवति कर्मजा ॥१२॥

चातुर्ययै यथा कृष्टं मुखकर्मणिमागताः ।

तस्य कर्तारमपि मां विद्वद्यकर्तारिमप्ययम् ॥ १३॥

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा ।

इति मां योऽरिजानाह कर्मविर्न स बभूवते ॥१४॥

एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि सुपुत्रभिः ।

कुरु कर्मैव तस्मात्तव पूर्वं पूर्वतरं कृतम् ॥१५॥

यह धर्म नष्ट होता जग में अरु महा पाप छा जाता है ।
 अब हुक हुआ यह जीव मेरा फिर पुनर्जन्म पा जाता है ॥७॥
 दुष्टों का भाग कष्ट आकर सबकों की रक्षा करता हूँ ।
 अरु धर्म स्थापना के कारण भू पर स्वच्छन्द विचरता हूँ ॥८॥
 मम जन्म कर्म है दिव्य सत्ते ! जो इसी तत्व का ज्ञाता है ।
 वह देह त्याग फिर जन्म न लेते वस प्राप्त सुखे हो जाता है ॥९॥
 भय, राग, क्रोध को तज कर जो नर मेरा आश्रय लेते हैं ।
 वह ज्ञान स्वरूपा के वल से निज मन पवित्र कर लेते हैं ॥१०॥
 वैसे ही मैं उनको भजता जैसे नर मुझको भजते हैं ।
 हे पार्थ ! सुजन यह तत्व जान मम मार्ग नहीं वह भजते हैं ॥११॥

कोटा—“जैसा बोधे काट ले नियम अटल यह जान ।

मेरे शासन में रहे, सारा विश्व सहान ॥

कर्मों के फल के इच्छुक जब वर देवों की पूजा करते ।
 इस मर्त्यलोक में जन्दी ही वे कर्म फलों को पा लेते ॥१२॥
 शुभ और कर्म अनुसार सत्ते ! मैं पारों वर्म बनाता हूँ ।
 इनका कर्ता भी होकर मैं भिक्ता ही पहलता हूँ ॥१३॥
 कर्मों के फल की चाह नहीं, नहिं मुझे बाँधते कर्म कभी ।
 जो नर मुझको ऐसा जाने वह कर्म पाश से छूटे सभी ॥१४॥
 वस मोक्ष चाहने वाले नर एक यही मार्ग अपनाने हैं ।
 तू भी ऐसा ही कर अर्जुन ! जो पूर्व पुरुष कहलाते हैं ॥१५॥

किं कर्म किमकर्मेति वक्ष्येऽप्यत्र मोक्षिताः ।

तते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्षयसेऽश्रुवात् ॥१६॥

कर्मस्यो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मसुः ।

अकर्मणश्च बोद्धव्यं गदना कर्मस्यो गतिः ॥१७॥

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः ।

स बुद्धिमान्मनुष्येषु स पुक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥१८॥

यस्य सर्वे सुधारयः कायसंबन्धवर्जिताः ।

ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः परिद्धवं पुथाः ॥१९॥

त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः ।

कर्मण्यपि ब्रह्मचोऽपि नैव किंचित्करोति सः ॥२०॥

निराशीर्यतश्चियात्मा त्यक्तसर्ववर्गिभूतः ।

शरीरं केवलं कर्म कुर्वन्माप्नोति किञ्चिदम् ॥२१॥

पदच्छायावर्ततुष्टो हन्द्वासीतो विमत्सरः ।

समः सिद्धान्सिद्धौ च कृत्वानि न निवश्यते ॥२२॥

चतुर्भुजस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः ।

यद्वायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ॥२३॥

ब्रह्मार्पणं ब्रह्मदधिर्ब्रह्माग्नी ब्रह्मणा हुतम् ।

ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥२४॥

क्या करें और क्या नहीं करें कुछ नहीं समझ में आता है ।
 वह कर्म बताता हूँ जिससे नर परम धाम को पाता है ॥१६॥
 क्या करना है यह जानो तुम, है क्या अकर्म, निष्कर्म तसे ।
 दुर्बोध कर्म की यति जग में इसका रहस्यो मर्म तसे । ॥१७॥
 कर कर्म अकर्म इसे जाने अरु ओ अकर्म को कर्म कहे ।
 वही योगी है, बड़ कर्ता है, मतिमान सभी जग उसे कहे ॥१८॥
 जो कर्म सदा अपने निरादिन निष्काम भाव से कर पाता ।
 तब कर्म ज्ञान में अरु जाते वह नर पंडित है कहलाता ॥१९॥
 जो कर्म फलों में पसे नहीं, अरु तृप्त रहे स्वच्छन्द रहे ।
 कर्मों में लगा हुआ भी वह कुछ करे नहीं, आनन्द गहे ॥२०॥
 वन, आरमा जिसके वश में हो धन संपद का नहीं ताप लगे
 उन द्वारा कर्म किये परमी नहीं उसे वनिक भी पाप लगे ॥२१॥
 इच्छा पा कर लाभ प्रयत्न न हो इन्द्रों के पास न जाता है ।
 तो सफल विफल होनेपर सम, वह बन्धन मुक्त कहाता है ॥२२॥
 तो चित्त ज्ञान में लगा हुआ अरु आसक्त की का नाम न हो ।
 ग्रहित जोर्म कर आशी फंस कर्मों में कदनाथ न हो ॥२३॥
 दोहा—यज्ञ ब्रह्म, इति ब्रह्म है, ब्रह्मान्त में जाय ।
 ब्रह्म समाधो जो रहे, वही ब्रह्म पद पाय ॥२४॥

देवमेवापरे यत्नं

येष्विनः पशुपासते ।

ब्रह्मन्वापरे यत्नं

यत्नेनैवोत्तुङ्गति ॥ २

भोगदीर्घाग्निश्चाप्यग्नये संपमाग्निषु तुङ्गति ।

कुम्भदीर्घाग्निश्चाप्यग्नये इन्द्रियाग्निषु तुङ्गति ।

एतर्ह्येन्द्रियकर्मादि प्राणकर्माणि चापरे ।

आत्मसंपमयोगाग्नी तुङ्गति ज्ञानदीप्ति ।

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे ।

स्वाभ्यासज्ञानयज्ञाश्च यत्नः संश्लिष्टतयाः ।

अपाने तुङ्गति मार्गं प्राप्तेऽर्थानं तथापरे ।

प्राणापानयती रुद्ध्वा प्राणायामाययथाः ॥

अपरे नियताहाराः प्राद्यान्मदीदृशु तुङ्गति ।

सर्वेऽप्येते यद्विदो यद्वृत्तिरुक्तमयाः ॥ ३

यद्विशिष्टासृष्टजी यान्ति ब्रह्म सनातनम् ।

नार्य लोकोऽस्त्यरहस्य कुतोन्वञ्जुस्तथम् ॥ ३

एवं यद्विधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुक्ते ।

कर्मज्ञानिद्वि तान्सर्वानिर्वं कृत्वा विरोच्यते ॥ ३

अपेयान्द्रव्यमवायज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परतप ।

सर्वं वर्माहितं चार्थं ज्ञाने परित्याप्यते ॥ ३

लोफ-प्राप्त के लिये निम्न २ मार्ग

बुद्ध देवों को पूजकर, लोग करें हैं यज्ञ ।

ब्रह्मानन्द में अन्ध जन, भस्म करें हैं यज्ञ ॥

बुद्ध देवों का पूजन केवल बुद्ध लोग यज्ञ को करते हैं ।

बुद्ध ब्रह्म समाधी में रहकर नित ज्ञान उत्तीर्ण करते हैं ॥२३॥

बुद्ध योगीजन नित इन्द्रियों को वस संयमानि में लीन करें ।

बुद्ध शब्दरूप सम विषयों को इन्द्रियमें सत्ताहीन करें ॥२४॥

बुद्ध कर्म इन्द्रियों से करके नित प्राणों के व्यापारों को ।

नित संयमानि में भस्म करें, दृढ़काये ज्ञान अक्षुण्णको ॥२५॥

द्रव्यों से यज्ञ करें कोई, तब यज्ञ, योग का यज्ञ करें ।

उत्तम इतपारी यती पुरुष स्वाध्याय ज्ञान का यज्ञ करें ॥२६॥

बुद्ध प्राणायाम करें प्राणी नित अज्ञान प्राण में भस्म करें ।

बुद्ध प्राण रूपानों में फूँके फिर दोरी को अवरुद्ध करें ॥२७॥

बुद्ध योगी भोजन कम खावें, प्राणों में प्राण मिलाते हैं ।

यज्ञों से जिनके पाप नष्टें वस यज्ञ ज्ञान वह पाते हैं ॥२८॥

हस यज्ञ शेष को जो खाते वह पर ब्रह्म को पाते हैं ।

जो यज्ञ नहीं करते मूर्ख वह दोनों लोक भ्रंशते हैं ॥ २९ ॥

यह बहुत यज्ञ विस्तार सहित सब वेदों में वक्तव्य है ।

कर्मों से पैदा होते हैं, ज्ञान मुक्ति पद पाये हैं ॥ ३० ॥

जो यज्ञ द्रव्य से होता है, है ज्ञान-यज्ञ उत्तम उस से ।

जितने भी कर्म अज्ञान में हैं सब ज्ञान योग में आये वसे ॥३१॥

तद्विद्धि प्रसिद्धैः परिश्रमेन सेवया ।

उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं श्रुत्वा तदात्मनः ॥३४॥

यज्ज्ञात्वा न तुल्योद्दिष्टं चास्मि पापहवः ।

येन शून्यान्वयेरेह ज्ञानमस्मान्मयी मयि ॥ ३५ ॥

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पराशुभनः ।

सर्वं ज्ञानप्लवेनैव कृमिर्न संहरिष्यति ॥ ३६ ॥

यथैवास्ति सतिहोषित्वैतत्कालमुदोऽक्षुर्न ।

ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥ ३७ ॥

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।

तत्स्वयं योगसंस्थिदः कालेनात्मनि विन्दति ॥ ३८ ॥

अज्ञावांस्तमते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः ।

ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणादिवन्दति ॥३९॥

अज्ञश्चाभद्रधानश्च संशुभला विनश्यति ।

नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ॥४०॥

योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंक्षिप्तसंशयम् ।

आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्यन्ति धनञ्जय ॥ ४१ ॥

तस्मादज्ञानसंभूतं हृत्स्वं हस्तदिवारणम् ।

क्षित्वैनं संशयं योगसंक्षिप्तोऽस्ति भासते ॥ ४२ ॥

इति श्रीनङ्गवक्त्रोदाहृत्यक्तु नङ्गवक्त्रोदाहृत्यक्तु योगशास्त्रे

श्री कृष्णार्जुनसंवादे ज्ञानकर्मसंन्यास योगो

नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥४३॥



सेवा आनी पुरुषों की, आदर से पूछी प्रश्न यदा ।
 विश्व ज्ञान का वह देगे यदि तुम से होय प्रश्नच सदा ॥३४॥
 ज्ञान प्राप्त करके अर्जुन ! तू मोह पाव हो आवेगा ।
 इको भक्त में अरु अपने में, पद विश्व न जन फिर आवेगा ॥३५॥
 तबे ही दूजे पाव किसे, हो पापित का सत्ताज अमर ।
 बैठ ज्ञान की नीका में सब पापों से आवेगा हर ॥३६॥

रोहा-ई धन जगती आन में, भस्म क्या हो जाय ।
 ऐसे ही ज्ञानाग्नि सब, कर्मों देत जलाय ॥३७॥
 ही ज्ञान सजान कहीं संग में कुछ भी पवित्र दिसलाता है ।
 ज्वाला राह पद योगी की आत्मा में जाय सजलाता है ॥३८॥
 हर हो, बड़ा बाला हो, अरु जीत इन्द्रियों की जितने ।
 ज्ञान के ज्ञान अमर होवे तुल्य शक्ति सदा का की तब मे ॥३९॥
 ज्ञानी, कथड़ा वाला भीर संशयात्मा नस जावे ।
 ह होठ नसे, परलोठ नसे, वह नहीं कभी मो तुल्य पावे ॥४०॥
 १५ कर्म योग से त्याग दिने अरु ज्ञान से काटा संशय को ।
 केर कर्म नहीं बांधे अर्जुन ! उस आत्म ज्ञानी निर्मय को ॥४१॥
 रोहा-लेख आवश्यक योग का, कर में ज्ञान कटार ।

उठ, मन का संशय मिटा, कलके प्रकल प्रहार ॥४२॥

ज्ञान कर्म सम्पन्न योग ज्ञान का
 चतुर्थ अध्याय समाप्त ॥

अथ पंचमोऽध्यायः

(कर्म—संन्यास योग)

—४४—

आहुतेन वक्ष्यामि

संन्यासं कर्मणां कृष्य पुनर्योगं च संसमि ।
यच्छेद्य एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम् ॥१॥

श्री भगवान् वक्ष्यामि—

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते ॥२॥
ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति
निर्द्वन्द्वो हि ब्रह्मावाप्तो मुक्तं बन्धात्प्रमुच्यते ॥ ३ ॥

सौख्ययोगी पृथग्याताः

प्रवदन्ति न परिहृताः

एकमप्यास्थितः सम्यग्बुधयो

विन्दते फलम् ॥ ४ ॥

यत्सौख्यैः प्राप्यते स्वानं

तद्योगीरपि गम्यते ।

एकं सौख्यं च योगं च

यः वत्सति स वत्सति ॥ ५ ॥

पांचवां अध्याय

(कर्म-संन्यास योग)

— ४४ —

अर्जुन बोला—

“हे कृष्ण ! कर्म संन्यास कभी, फिर कर्म योग बतलाते हो ।
इन दोनों में क्या अन्तर है क्यों छीक नहीं समझाते हो ॥१८॥

श्री भगवान् बोले—

अर्जुन ! दोनों हैं द्वितीयरी यह कर्म योग संन्यासना ।
पर कर्म योग है श्रेष्ठ सबे ! द्वितीय संन्यास नहीं उतना ॥१९॥
यदि द्वेष कामना है जिसमें तू उसको संन्यासी जानो ।
सब इन्हीं से जो परे रहे, वस उसको मुक्त हुआ जानो ॥२०॥

दोहा—ज्ञान योग अरु कर्म में, मूर्ख भेद बताव ।

करे एक का मनन जो, दोनों का फल पाव ॥

“हे सांख्य, योग दो” मूढ़ कहें, पंडित कुछ भेद न पाते हैं ।

आश्रय एक का भी लेकर नर दोनों का लाभ उठाते हैं ॥२१॥

सांख्यों को स्थान मिले जैसा वैशा ही योगी पायेंगे ।

जो जानी है इन दोनों में कुछ भेद नहीं बतलायेंगे ॥

दोहा—सांख्य और योगी सदा, पाते हैं एक स्थान ।

दोनों ही यह एक है, इनमें भेद न जान ॥२२॥

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमावृत्तये ॥ १० ॥

योगादुक्तो मुनिर्ब्रह्म न विन्देद्यत्किञ्चन ॥ ११ ॥

योगेष्टुक्तो विशुद्धात्मा निश्चिदात्मा चित्तेन्द्रियः

सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥ १२ ॥

नैव किञ्चित्करोतीति शुद्धो मन्येत साधयिन् ।

योगेष्टुक्तो विशुद्धात्मा निश्चिदात्मा चित्तेन्द्रियः ॥ १३ ॥

प्रकृत्यन्तेन कर्तुं शक्नुमिदं किञ्चित्करोतीति ।

इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यः परान्त इति धारयन् ॥ १४ ॥

उत्तापराधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः

निप्यते न स पापेन पञ्चपञ्चमिवाग्मता ॥ १५ ॥

कार्येन मनसा शुद्धया केवलैरिन्द्रियैरपि ।

योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वाऽप्यशुद्धये ॥ १६ ॥

शुद्धः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम् ।

अशुद्धः कामधारेण फले तक्तो विवर्ष्यते ॥ १७ ॥

सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी ।

न चदारे पुरे वेदी नैव कुर्वन्न करस्यन् ॥ १८ ॥

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः ।

न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रपद्यते ॥ १९ ॥

नादत्तं कार्यचित्तार्थं न चैव मुक्तं विशुद्धः ।

यज्ञादेवाहृतं धानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ॥ २० ॥

सब कर्म योग्य समझाये करे वह महापौर दुख पाता है ।
 वह योग्य कुछ जान्ता सहस्र ब्रह्म में जाय समाता है ॥६॥
 हो शुद्ध, चली संपन्न वाता पर कर्म योग में लगा हुआ ।
 सबको समझे धरने जैसा वह नहीं कर्म में कभी फंसा ॥७॥
 वह देखे, सुने, छुने, पूछे, वे सांग, चले पर रह्य करे ।
 हलकी को लोले, बन्द करे, चोले, त्यागे पर ब्रह्म करे ॥८॥
 जित्त कर्म इन्द्रियां करता है वही पण्य कर्मो इन में चला ।
 मैं कुछ भी स्वयं न करता हूँ योगी मन में अनुभव करता ॥९॥
 ईश्वर को अर्पण कर्म करे, बुनि उन में निरवयव रहै ।
 वह पापी नहीं बने जैसे बंकाव दल दल में शुष्क रहे ॥१०॥
 तन से, मन से, बलि से अथवा इन्द्रिय के द्वारा कर्म करे ।
 योगी सब ममता छोड़ त्याग करे, कलको निरव हरे ॥११॥
 कर्मों के फल को तन योगी जित्त नर शान्ति को पाता है ।
 जो त्याग नहीं फल कर करता तो काम उसे बंधन था है ॥१२॥
 मनसे सब कर्मों को तनकर नहि कर्म कर ये भीर करे ।
 नवद्वारमयी दल जगरी में सुख से इन्द्रिय, जित्त टौर को ॥१३॥
 दोहा—कर्मान्न को, कर्म को, कर्मफलों का मेल ।

वह इनको चला नहीं, है स्वभाव के सेल ॥१४॥

नरके सकर्म, न पापों को प्रहृष्टय नहीं करता जोर ।

अज्ञान ज्ञान हो एक सेता, करता उसको मोहित मोह ॥१५॥

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां न विद्यते तदा ॥
 तेषां च दित्यन्तर्गतं प्रकाशयति उत्तरम् ॥१॥
 तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निहास्तथा ॥ यस्तु ॥
 मच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिष्ठकल्मषाः ॥१॥
 विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे मयि हस्तिनि ।
 शुनि यैव श्वपाके च परिहृताः समदर्शिनः ॥१॥
 इदं च तैजितः सद्यो येषां साम्ये स्थितं मनः ।
 निदोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥१॥
 न ब्रह्म्येति प्रथं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम् ।
 स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद्ब्रह्मणि स्थितः ॥२॥
 साक्षस्पर्शेष्वसुक्तात्मा विन्दत्यात्मनि चतसुखम् ।
 स ब्रह्मयोगवृत्तात्मा सुखमश्नुयन्नस्तुते ॥२॥
 ये हि संस्पर्शजा मोहा दुःखयोनय एव ते ।
 आपन्नवन्तः कीन्ते य न तेषु रमते बुधः ॥२॥
 शब्दोभीर्द्वयः सोऽहं प्राक्शरीरविमोक्षणात् ।
 कामक्रोधोद्भवं वैभं स शुक्लः स सुखी नरः ॥२॥
 योऽन्तः सुखोऽन्तराशमस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः ।
 स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ॥२॥
 समन्तो ब्रह्मनिर्वासस्पृशः क्षीणकल्मषाः ।
 शिखरैश्च च्छात्मानः सर्वभूतहिते रताः ॥२॥

जो इस अज्ञान अधारे को नर ज्ञान दीप से नष्ट करे ।
 त्रिभिः सूर्य दिशाता चोर्वी को त्रिभिः ज्ञान नक्षत्रो स्पष्ट करे ॥१६॥
 मन बुद्धि लगावे ब्रह्मण में उस में ही उत्तर हो आवे ।
 हों साय ज्ञान मे दूर किये वह नहीं लौट जग में आवे ॥१७॥
 विद्वान् व विनयी ब्राह्मण को, कृपे को, शीघ्र को, शायी को ।
 पण्डित सब को सम जाने है, पुनि चाणक्य से साथी को ॥१८॥
 यह सम्य वाद विचने जाना जग को है जीत लिया उसने ।
 है ब्रह्मण सम वह निर्दोषी ब्राह्मण को पाय लिया उसने ॥१९॥
 प्रिय पाय प्रसन्न नहीं होवे अरु लिख न हो अत्रिय वाकर ।
 स्विदमति हो मोह रहित होकर ब्रह्मणमें तुरत मिले जाकर ॥२०॥
 जो जग के विषयों में फँसकर आसक्त न हो सुख पाता है ।
 वह ब्रह्म योग में लगा हुआ अक्षय आनन्द बनाता है ॥२१॥
 यह इन्द्रिय भोग सभी अर्जुन नित दुःख के देने पाते हैं ।
 मतिमान नहीं इन में रमते यह सदा न रहने वाले हैं ॥२२॥
 मरने से पहिले जो प्राणी नित काम क्रोध का श्रेय सहे ।
 यह सुखो अमृत में होता है, उतखे योगी संतार कहे ॥२३॥
 है आत्मा में आनन्दित वह मन में त्रिभिः उज्जिपाला है ।
 जो अपने में है रमा हुआ वह ब्रह्म पाय मतवाला है ॥२४॥
 निष्पाप, संयमी, उपकारी, संशय विनका है दूर हुआ ।
 वह परं ब्रह्म को पाते हैं पर हित में मन अग्रह हुआ ॥२५॥

कामलोपविभुक्तानां यतीनां ॥२३॥
 अग्नितो मयनिर्वाणं वर्तते सिद्धिस्तस्मिन्नाम् ॥२४॥
 स्पर्शान्निहृत्वा यदि रक्षाभिस्तु नैवान्तरे भुजोः ।
 प्राणपानी सधौ कृत्वा नात्राभ्यन्तरागिणी ॥२५॥
 पतेन्निद्रपमबोधेति निर्दोषस्तपसः ।
 विवनेच्छावयकोधो यः सदा नृक गृह सः ॥२६॥
 मोक्षार्थं यत्तत्पत्नी सर्वलोकाभ्युदयम् ।
 सुदृढं पर्वभूतानां तस्या मां शान्तिस्तुच्छति ॥२७॥
 इति श्रीमद्भगवद्गीतासु योगसप्तमोऽध्यायः समाप्तः ॥
 श्रीकृष्णार्जुनसंवादे धर्मसंन्यासयोगो नाम
 पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥



हो काय प्राय से दूर, मरण, आत्मा को चितने जान लिया ।
 क्या बहूँ और उली के हैं उसने प्रभु को पहचान लिया ॥२६॥

जब प्राण अस्थान समान दिया भीतर और बाहर रोक लगा ।
 कानोंही भ्रष्टो बोध जमी हो दिया विषयको दूरमगा ॥२७॥

वन, इन्द्रिय मेघा को जीता हो ध्यान मुक्ति में लगा हुआ ।
 हृच्छा-मय क्रोध रहित होकर नर कन्यन से बह मुक्त हुआ ॥२८॥

देहा—पष्ट तपो का मोक्षा, और सर्व लोकेष्ट ।

जगन्निष्ठ शुद्ध को समस्त, भिट जाये तब कलेष्ट ॥२९॥

वर्म दन्द्यास योग नाम का पंचम अध्याय समाप्त ।



अथ षष्ठोऽध्यायः

(आत्म संयम योग)

श्री भगवान् उवाच—

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः ।

स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः ॥१॥

यं संन्यासमिति ब्राह्म्योक्तं तं विद्धि पाण्डव ।

न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन ॥२॥

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते ।

योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ॥३॥

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वतुषज्जले ।

सर्वसंस्पर्शसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते ॥४॥

तद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत् ।

आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥५॥

बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः ।

अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥६॥

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः ।

शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः ॥७॥

द्विठा अध्याय

(आत्म संयम योग)

श्री भगवान् ने कहा—

- जो आश्रय कर्म फलों का तज कर्तव्य कर्म को करता है ।
वह योगी है, सन्यासी है न कि वह जो तज न करता है ॥१॥
- “सन्यास” जिसे कहते जानी उसको ही “योग” बताते हैं ।
वह योगी कैसे होगा जो संकल्प नहीं तज पाते हैं ॥२॥
- योगी जो बनना चाहेंगे कर्मों के द्वारा बनते हैं ।
पुनि योगारूढ़ भवे, शम से मुक्तों का ताना तनते हैं ॥३॥
- जो कर्मों में आसक्त न हों अरु विषयों से भी दूर रहें ।
संकल्प सभी जो तज दें ज्ञानी जब योगी उन्हें कहें ॥४॥
- आत्मा को स्वयं उठा ऊपर नीचे न इसे फिर ले जावे ।
नर बन्धु स्वयं अपना ही है दुश्मन भी अपना कहलावे ॥५॥
- आत्मा को जीता अत्मा से तो वही बन्धु बन जाता है ।
जो अरने वश में नहीं रहा फिर दुश्मन वही कहाता है ॥६॥
- दोहा—सर्दी, गर्मी, सुख, दुःख, और मान अपमान ।
शान्त संयमी पुरुष को, सब है एक समान ॥७॥

नामनिहायतुल्यं सुदृश्यो विविधैर्दृश्यः ।

मुक्त इत्युच्यते योनीं पश्येत्तत्त्वतः ॥२॥

सुदृग्निर्वातुं दृष्टीर्यद्वरकृद्धं नयत्युदु ।

साधुष्वपि च पापेषु समदृष्टिर्विचिता ॥३॥

योनीं सुदृष्टिं सचक्षमात्मनं रहति स्थितः ।

एकाकी यतचित्तात्मा निरासीरपरिरुद्धः ॥४॥

मुची देशे प्रतिहास्य स्थित्वाऽहंकारकः ।

साधुनिर्जितं नाभिनीचं चैलाजिरङ्गशोचकम् ॥५॥

सर्वैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः ।

उपविश्यात्मने सु व्याधोगमात्मरिमुद्धरे ॥६॥

समं कायशिरोघ्नीं च धारयन्नधस्तं स्थिरः ।

संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ॥७॥

प्रशान्तात्मा विगतभीर्क्षयविमले स्थितः ।

मनः संशय्य मक्षितो मुक्त आसीत् उत्तरः ॥८॥

मुक्तभेषं सदात्मानं योनीं वियतमानसः ।

शान्तिं निर्वासयन्मां मत्संस्थामधिगच्छति ॥९॥

नात्यरुनस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमननतः ।

न चादिरूपरङ्गीकृत्य व्याप्तो नैव चातुर्न ॥१०॥

मुक्ताहारविहारस्य मुक्तपेदस्य कर्मसु ।

मुक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुर्लभा ॥११॥

जो तम हुआ है अनुभव से भी जानी है इन्द्रिय नेता ।
 तब ही सोना एक उसे, वह योगी का आसन लेता ॥८॥
 रेशे, मध्यस्थ, सुहृद, वन्द्य जो उदासीन कर देगी को ।
 पुनि साधु दृष्ट जो तम देखे वह कर अति उत्तम योगी हो ॥९॥
 संयम से आसुरहित होकर जन के सुख संग्रह करे ।
 एकान्त स्थान में स्थित होकर योगी नित प्रह्लाद भ्याये ॥१०॥
 एक ही स्थान में स्थिर आसन अति ऊँचा नीचा नहीं बने ।
 मृम झाला होय कुर्यासन पर अरु उत पर जालो वस्त्रधने ॥११॥
 ऐसे आसन पर बैठ बिच एकत्र किया इन्द्रिय दम से ।
 हो शुद्ध आत्मा हो जाये यदि योग लगाय पश्चिम से ॥१२॥
 तन प्रीति शीघ्र सम्मान रहे पुनि अचल अवस्था को धारे ।
 वहुं धार पुमाये आल नहीं बस दृष्टि नासिका पर धारे ॥१३॥
 निर्भीक प्रव्रचारी होकर मूक में ही बिच लगा होवे ।
 हो शान्त बिच वस में कस्तो वह योगी मुक्त सदा होवे ॥१४॥
 जो बिच रोक प्रहृ को भ्याये मूक में रहकर सुख को पावे ।
 वह सुख मुक्तो का दाता है उस से आनन्दित हो जावे ॥१५॥
 अति खाने से योगी न बने पुनि जो विमृष्ट नहि लायी है ।
 अतिस्नानशील अरु आचरुक भी योगी नहीं कहाता है ॥१६॥
 जो भोजन में, वस्त्रावे में, संयम से लेता काम सदा ।
 सोता अमता है नियम सहित, दुःख से रहता उपराम सदा ॥१७॥

यदा विनियतं चित्तं निरुद्धं तदा
 निरुद्धः सर्वज्ञोऽस्य मुक्त इत्युच्यते तदा
 यथा दीपो निवातस्यो नेत्रते सोऽपि स्मृता
 योगिनो यतचित्तस्य बुद्धयो योगमात्मनः
 यतोऽस्य चित्तं
 निरुद्धं योगसेवया ।

यत्र चैवात्मनात्मानं

परश्चात्मानि तुष्यति ॥२॥

सुखमात्यन्तिकं यच्चदुःखिणोऽप्यतीतिहृष्यन् ।
 वेति यत्र न चैवायं स्थितमवति तत्र यतः ।
 यं सुखं चापरं लाभं मन्यते अधिकं ततः ।
 परिमन्थितो न दुःखेन गुरुयानि विचिन्त्यते ।
 तं विद्यादुःखसंयोगविशेषं योगसंहितम् ।
 न निश्चयेन योगिनो योगोऽपि किञ्चित्कदा ॥
 संकल्पप्रमथान्कामास्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः ।
 मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः ॥३॥
 शनैः शनैरुपरमेव बुद्ध्या हृतिगृहीतया ।
 आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत् ॥४॥
 यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलचरिणम् ।
 ततस्ततो नियम्यैतदात्मान्येव वशं नयेत् ॥५॥

इस में चित्त करे अपना अरु आत्मा में रम जाता है ।
 तब कामना हीन वही नर योगी युक्त कहाता है ॥१८॥
 इस जैसे निश्चल रहता होता जब बबन प्रवाह नहीं ।
 ही दशा उस योगी की मज्ज प्रसन्नजिसे कुछ चाह नहीं ॥१९॥
 हा—जित्त प्राणी का योग से, चित्त करे उपराम ।
 अपने को पहिचान वह, वाय परें सुख धाम ॥
 हा योग बल के द्वारा मन शान्त हुआ निदोषो है ।
 अपने को जान लिया वस वही परं सन्तोषो है ॥२०॥
 सुख को योगी पाता है मति से ही वह जाना जावे ।
 तन से दूर अनन्त है वह, योगी न कभी बिगने पावे ॥२१॥
 लाभ मिले जित्त योगी को कुछ और न अच्छा लगता है ।
 इसी अवस्था को पा कर वह दुख से नहीं विचलता है ॥२२॥
 के कहों का नाम नहीं जिसमें वह “योग” कहाता है ।
 तब से चित्त लगा उसके, मविमान उसे ही पाता है ॥२३॥
 जब अनित सब कामों का नर पूर्ण रूप से त्याग करे ।
 रोके इन्द्रियों को रोके सब विषयों का परित्याग करे ॥२४॥
 धैर्य-युक्त हो निज मति से मन को आत्मा में उहरावे ।
 धीरे २ शान्त-निश्च, प्रभु को राज और न कुछ ध्यावे ॥२५॥
 चञ्चल अस्थिर मन तेरा जिस और फिल्ल कर जाता हो ।
 उसी और से रोक उसे तू अपने वस में लाता हो ॥२६॥

प्रज्ञान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखसुखमम् ।
 उपैति शान्तस्वसं ॥
 सुखभोगं ह्यहंकारं योगी विगतकल्मषः ।
 सुखेन ब्रह्मसंस्तुतिरहंकारं ह्यहंकारं
 सर्वभूतस्वमात्मानं सर्वभूतानि चात्मानि ।
 ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ।
 यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।
 सस्याहं न प्रणम्यामि स च मे न प्रणम्यति ।
 सर्वं भूतस्थितं यो मां ब्रह्मत्वेकत्वमास्थितः ।
 सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ।
 आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ।
 सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥

अर्जुन उवाच—

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन ।
 एतस्याहं न पश्यामि चञ्चलत्वास्थितिं स्थिराम् ।
 चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि चलद्बलम् ।
 तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोऽपि सुदुष्करम् ॥

श्री महाबाहो उवाच—

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम् ।
 अभ्यासेन तु कौन्तेय वैशाम्पेय च गृह्यते ॥

तु चित्त उस योगी का विचित्रे पार्श्वों को छार दिया ।

तु दृष्ट में लीन हुआ सुख या अपना उद्धार किया ॥२७॥

ऐसी पाप गदित होकर आत्मा को शुद्ध बनाता है ।

तु दृष्ट को पाकर वह अत्यन्त सुखों को पाता है ॥२८॥

अपने को छोड़ों में वह उनको अपने में देखे ।

समदर्शी होता है सर्वत्र सभी को सब देखे ॥२९॥

हुं जो देखे है शुद्ध में सब शुद्ध सुख पाता है ।

हुं तथा मैं जीता हूँ, वह नहीं नाश को पाता है ॥३०॥

तु-समदर्शी शुद्ध के भजे, सर्व-भूत-स्थित जान ।

वही कही भी वह ज्ञे, समता शुद्ध में जान ॥३१॥

तु अपना से है अच्युत ! जो समान देखता है सबको ।

शुद्ध को वह समझता है वह पाता है योगी-पद को ॥३२॥

अच्युत बोला—

तु बोला “भायव तुमने वह साम्य-योग जो जगत्प्राप्त ।

के अति अच्युत होने से स्थिति इसकी यही समझ पाता ॥३३॥

शुद्ध ! चित्त अच्युत है वह कलबान हठी अरु पक्षा है ।

तु कठिन इसे बंध में करना जैसे बांधी का पक्ष है ॥३४॥

जो शुद्ध का उत्तर—

तु ! तुम ठीक बताते हो मन वह में करना सुषम नहीं ।

अप और अम्यात सदित बन्ध में होना न कठिन नहीं ॥३५॥

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः ।
वत्सात्मना तु यत्नता शक्योऽयं सुदुष्प्रापः ॥

अमुन वताच—

अपतिः शङ्कपात्रो योगाच्छित्तवान्तरः ।
अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां मतिं कृष्य गच्छति ॥
कश्चिन्नयनिश्वसिच्छिन्नाश्रमिव नस्यति ।
अप्रतिष्ठो महाबाहोः विमूढो ब्रह्मणः पथिः ॥
एतन्मे संशयं कृष्य छेत्तुमर्हस्यशेषतः ।
त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न क्षुण्यते ॥३॥

श्री भगवान् उवाच—

चार्षं नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते ।
नहि कल्याणकुरकरिचद्गतिं ताव गच्छति ॥४॥
प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुपित्वा शारवतीः सताः ।
शुचीनां भीमतां मेहे योगाश्रयोऽभिजायते ॥५॥
अथवा योगिनामेव कुले भवति भीमताम् ।
एतद्भिर्दुर्लभतरं लोके जन्म यदोदयम् ॥६॥
तत्र तं बुद्धितपोयं समते पीर्वददकिम् ।
यत्नते च ततो भूयः संसिद्धीं कुरुतन्दन ॥७॥
पूर्वाभ्यासेन तेनैव

द्विपते द्यवशोऽपि नः ।

।न मिलका बंध में दुखा नहीं वह योग कभी नहीं पावेगा ।
।नम वाला यदि यत्न करे संभव है मुक्त कहावेगा ॥३६॥

अर्जुन ने पूछा—

शुन बोला “अज्ञा वाला बंध हीन योग से द्विज जावे ।
।दि योगी नहीं बने बाधव ! तब कौन शरी को वह पावे ॥३७॥
।न दूटे बादल के समान दोनों पथ से द्विज जाता है ।
।न भी स्पष्ट नहि ईश मिले क्या आशय हीन कहाता है ॥३८॥
।रे मन में सन्देश उठा तुम दूर करो हे कृष्ण ! दूरे ! ।
।तुझे अतिरिक्त नहीं कोई संभव है इसको दूर करे” ॥३९॥

श्री कृष्ण ने उत्तर दिया—

।न कृष्ण कहे हे पार्थ ! नहीं वह नर विनाश को पाता है ।
।तुम कर्म तनिक भी जो करता वह पाता नहीं उद्यता है ॥४०॥
।न योग-भ्रष्ट हो जाता है पुण्यात्मा की योगी रावे ।
।निराला उता में रहता है फिर किसी पत्नी के घर आवे ॥४१॥
।होहा—अथवा सेता जन्म है, योगी के घर जान ।

।उम में सेता जन्म भी, है अति कठिन महान ॥४२॥
।निर बड़ा पूर्व संस्कारों से वह पुष्टि योग को पाता है ।
।पुनियोग सिद्धि का लक्ष्य बना फिर से वह भोग लगाता है ॥४३॥
।पहले अभ्यास सहित वह नर हो विवश योग की ओर बदे ।
।पुनि योग जान का लक्ष्य बना वह शुद्ध ज्ञान को पार करे ॥४४॥

विद्यादुग्धि योगस्य

सन्दमजातिवर्तते ॥ ४४ ॥

प्रपन्नायतमानस्तु योगी संशुद्धकिन्दवः ।

अनेकवन्मर्तुकिन्दवो वाति परां यतिम् ॥ ४५ ॥

तपस्विभ्योऽधिको योगी कारिन्नेऽपि संयुक्तः ।

कश्चिन्मर्यादापि योगी तस्माद्योगी नदाहुर्ये ॥ ४६ ॥

योगिनामपि सर्वेषां परमैश्वर्यस्य साधनम् ।

अज्ञानान्मरणे यो यां त मे युक्ततमो मतः ॥ ४७ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु अष्टाध्याय्ये योगशास्त्रे
 श्रीकृष्णार्जुनसंवादे सात्वत संवत्सयोगो नाम
 सप्तोऽध्यायः ॥ ४७ ॥



दोहा—उसी पूर्व अभ्यास से चले योग के धाम ।

करे पार जिज्ञासु भी वेदिक कर्म सकाम ॥ ४४ ॥

एक प्रकार यत्न करने वाला योगी निज पाप मिटाता है ।

हुनि जन्म जन्म की सिद्धि से वह परम गती को पाता है ॥ ४५ ॥

एक करने वालों से अशुभ ! फल युक्त कर्म वालों से भी ।

हानी से भी योगी उत्तम इस कारण तू बन जा योगी ॥ ४६ ॥

दोहा—हुमको भजता नित्य जो, श्रद्धा से कर ध्यान ।

सब योगिन में उसी का करता हूँ मैं मान ॥ ४७ ॥

आत्मसंयमयोग नाम का द्वादश अध्याय समाप्त ॥



अथ सप्तमोऽध्यायः

(ज्ञान विज्ञान योग)

श्रीभगवान् उवाच

भक्त्यासक्तमनाः पार्थ योगं युक्त्यन्मदाश्रयः ।

असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु ॥ १ ॥

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यहोरात्रम् ।

यज्ज्ञात्वा नेहभूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते ॥ २ ॥

मनुष्याणां सहस्रेषु कथियन्ति सिद्धये ।

यततामपि विद्वानां कथिन्मां वेति तत्त्वतः ॥ ३ ॥

भूमिरापोऽनलो वायुः

सं मनो बुद्धिरेव च ।

अहंकार इतीयं मे

मिथ्या प्रकृतिरष्टधा ॥४॥

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पताम् ।

जीवभूतां महाबाहो यथेहं धार्यते जगत् ॥५॥

एतयोनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय ।

अहं कृत्स्नस्य जगत् प्रभवः प्रलयस्तथा ॥६॥

अध्याय

(ज्ञान विज्ञान योग)

—००००—

श्रीकृष्ण उवाच—

मुझ में आसक्त हुआ अर्जुन ! यदि मेरे द्वारा योग करे ।
वह ज्ञान मुनाता हूँ जिससे मुझको जाने, शक, दूर करे ॥१॥

मैं पूर्ण ज्ञान विज्ञान तुझे सब भस्मी भांति समझाता हूँ ।
जिसको जाने-कुछ शेष नहीं वह ज्ञान तुझे बतलाता हूँ ॥२॥

नर कोई सहस्रों में बिग्ला दृढ़ पत्न सिद्धि के लिये करे ।
पुनि उन में भी विरला कोई मम रूप जान निज कष्ट हरे ॥३॥

शेष—अग्नि वायु जल बुद्धि मन, पृथ्वी भी आकाश ।

अहंकार इन आठ से, मेरा होय प्रकाश ॥

पृथ्वी, जल, आग, पवन, मेधा, मन, अहंकार, आकाश सखे ।
मेरी प्रकृति का आठों से होता है नित्य प्रकाश सखे ॥४॥

अपरा प्रकृति यह कहलावे, अरु दूखी परा कहाती है ।
वह जीव रूप है हे अर्जुन ! सब जग का भार उठाती है ॥५॥

इन दोनों ही से सब प्राणी इस जग में पैदा होते हैं ।
उत्पन्न सभी मुझ से होते पुनि लोप हुका में होते हैं ॥६॥

मन्तः परतरं नान्य-

दिकमिदं च वक्ष्यामि ;

मयि सर्वमिदं प्रोक्तं

सर्वं यद्विदुस्त इव ॥ ७ ॥

सतोऽहमद्यु कीन्तोऽयं प्रभास्मि हरिः सर्वदेव ।

प्रणवः सर्वभूतेषु शुन्दः स्वे पीठं सृष्टु ॥ ८ ॥

पुण्यो मन्त्रः इधियां च तेजस्यस्मिन्निभादही ।

जीवनं सर्वभूतेषु तज्ज्वा स्मिन् तमसिषु ॥ ९ ॥

धीर्जं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम् ।

शुद्धिं बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ॥ १० ॥

यत्तं यज्जवतां त्वाहं काशरागविशानितम् ।

यमाचिरुद्धो भूतेषु कायोऽस्मि यस्तर्षम ॥ ११ ॥

ये चैव सार्वभौम आद्या राजतास्तामसास्थने ।

मय एवेति तान्निहि नस्वहं तेषु ते मयि ॥ १२ ॥

त्रिविगुणमयैर्भावै-

रेभिः सर्वं विद्ं वक्ष्यामि ।

मोहितं नाभिजानाति

सामेभ्यः परमव्ययम् ॥ १३ ॥

दैवी क्षेत्रा मुखमपी मम आद्या दुरत्यया ।

सामेव नै प्रपद्यन्ते आपामेतां तपन्ति ते ॥ १४ ॥

हृद से कुछ थोड़ा नहीं अलग ! एक उपमा से सबझाऊँ तुम्हें ।
विश्वों धाने में सुधी रहें त्यों जगत विरोधा है हृद में ॥

देहा—हृद से अच्छा कुछ नहीं, माना में यश होय ।

इस प्रकार हृद में तसे ! दीन्हां विरव विरोय ॥ ७॥

जल में रह जानो मुझे सदा रवि चन्द्र प्रकाशित है हृद में ।

तेरी में शोभ, नरी में मैं पुरुषत्व, शब्द हूँ मैं नम में ॥ ८ ॥

पृथ्वी में रंध कड़ाटा हूँ, अग्नी में तेज मुझे जानो ।

सब भूतों में मैं जीवन हूँ, तपियों में तप हृद का मानो ॥ ९ ॥

पुरुषों का कारण मैं ही हूँ मतिमान बुद्धि हृद से धारें ।

तेजस्वी का हूँ तेज तसे सब झानी जन यह उचारें ॥ १० ॥

फलगनों में पल मेरा है जो काम राग से दुष्ठा नहीं ।

यह काम जगत में मैं अलग्न सो धर्म से होवे दटा नहीं ॥ ११ ॥

सद्भाव राज तो भाव यहाँ मैं तामस भाव बनाटा हूँ ।

यह हृदसे है, यह हृद में है, मैं उनमें रखाव न पाता हूँ ॥ १२ ॥

इन तीनों गुणमय भावों से यह जग बरकाया जाता है ।

मैं अव्यय हूँ, अविनाशी हूँ जग जान नहीं यह पाता है ॥

देहा—तीनों गुणमय भाव से, जग बरकाया जाय ।

हृद अविनाशी नख को, इस से जान न पाय ॥ १३ ॥

अति अद्भुत मेरी माया यह है अगमतीन गुण एक तसे ।

वो प्राणी नित्य मुझे भजते सब पाव करें ही मुक्त तसे ॥ १४ ॥

न मां दुष्कृतिभ्यो मृगः प्रपद्यन्ते एतस्मिन् ।

सायकपद्मजानां व्यासुरं माधवाभिताः ॥ १५ ॥

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽस्तु न ।

व्यासो विद्यासुर्धर्माधी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥ १६ ॥

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकमक्तिर्विशिष्यते ।

प्रियो विद्यासिद्धोऽत्यर्थं हि स च मम प्रियः ॥ १७ ॥

उदासः सर्वं एवैषु ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ।

आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुचमां मतिम् ॥ १८ ॥

बहूनां जन्मनामन्ते

ज्ञानवान्मां प्रपद्यते ।

पातुरेषः सर्वमिति

स मदात्मा सुदुर्लभः ॥ १९ ॥

कामैस्तैस्तैर्ह तज्ज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः ।

तं तं नियममास्थाप प्रकृत्वा नियताः स्वया ॥ २० ॥

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति ।

तस्य तस्याचक्षां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ॥ २१ ॥

स तथा श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते ।

तन्मते च ततः कामान्मयैव विदित्वान्धि तान् ॥ २२ ॥

अन्तर्धनुं फलं तेषां

तद्वत्पन्थमेषस्ताम् ।

हमों, मूढ़ मराधम हैं जो नहीं सुझे नर भजते हैं ।

या ने ज्ञान इस उनका नहीं भाव आसुरी रखते हैं ॥१४॥

चार तरह के नर असुर हैं। मुझ को हैं भित भजने वाले ।

ही जिज्ञास, अर्थाधी अरु पीड़ित शुभ करने वाले ॥१५॥

वे ज्ञानी ही उत्तम हैं समदर्शी युक्त सदा रक्षता ।

मेरा आदर करता है अरु मैं उसको प्यारा कहता ॥१६॥

ही चार्गे ही अच्छे हैं पर ज्ञानी को भिन्न रूप कई ।

युक्त हुआ मुझको भजता उसकी उत्तमगति में ही हैं ॥१७॥

जो-बहु जन्मों के अन्त में, ज्ञानी मुझको पाय ।

वासुदेव सब जगत है, यही चित्त में लाय ॥

जन्म पाय मुझको असुर हैं, ज्ञानी जन मुझको पाता है ।

वासुदेव मय जग देखे वह दुर्लभ जग में आता है ॥१८॥

ज्ञान काभना में लोया बहु देवों को वह भजते हैं ।

अ प्रकृति द्वारा बंधे हुये वह उसी नियम पर चलते हैं ॥२०॥

किसी देवता की जग में अज्ञा से पूजा करता है ।

मेरे द्वारा ही उसमें निश्चल अज्ञा को धरता है ॥२१॥

त अज्ञा से वह युक्त हुआ भित उसी देव का ध्यान धरे ।

रे निर्माण किये इच्छित योगों का देवन नित्य करे ॥२२॥

दोहा-मन्द बुद्धि ऐसा पुरुष नाशवान फल पाय ।

देव भक्त मिलि देव में, योग मुझ में आय ।

देशान्देशयतो यान्ति

बहुधा यान्ति मामपि ॥ २३ ॥

कल्पकं यच्छिवालयं मन्थन्ते मामतुद्रयः ।

परमात्मजानन्तो ह्यन्तर्मात्रादुत्पद्यन् ॥ २४ ॥

माह प्रकाशः सर्वस्य लोकान्तरादुत्पद्यते ।

सूक्ष्मं माभिजानाति लोको मामत्रमव्ययम् ॥

देशाहं समशीतानि वर्तमानानि चार्तुभ ।

मविष्यामि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन ॥ २५ ॥

इन्द्राहं पशुसूतेन इन्द्रबोदेन भारत ।

सर्वभूतानि तमोहं तमे यान्ति परंतप ॥ २६ ॥

येषां त्वन्तगतं पार्थ जनानां दुष्टपदार्थिनाम् ।

ते इन्द्रबोदनिर्मुक्ता भवन्ते मां वदन्तः ॥ २७ ॥

जलनरकमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति वै ।

ते मया तद्विदुःकृतस्त्वमभ्यासं कर्म चास्मिन् ॥ २८ ॥

तद्विदुःकृतैरेवं मां साधियद्वा च वै विदुः ।

प्रयासमतेऽपि च मां ते विदुर्मुक्तयेततः ॥ २९ ॥

इति श्री ब्रह्मसंहितासूत्रनिष्ठसु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे

श्रीकृष्णार्जुनसंवादे कान्तविद्यायोगो नाम

सप्तमोऽध्यायः ।

विमन्द दुरूप जग में नित नाशवान फल पाते हैं ।
 भक्त मिलें उन में, सब शक्त मुझे पा जाते हैं ॥२३॥
 अव्यक्त मुझे मूर्ख अवश्य नित व्यक्त समझते हैं ।
 तम अव्यय भाव मेरा मति हीन नहीं लल सकते हैं ॥२४॥
 शया द्वारा लिखा हुआ मैं स्पष्ट नवर नहि आता हूँ ।
 पहिचान नहीं सकते अविनाशी अब कदसाया हूँ ॥२५॥
 दुरूप हो गुप्तरे हैं, अरु विद्यमान जो हैं जग में ।
 तो आये होंगे सब को मैं जानूँ मुझे न वे जानें ॥२६॥
 इस में सारे प्राणी नित, इच्छा इषे करी होकर ।
 से मृद हुये अलुर्न । अरु अन्धकार में रहे विचर ॥
 १-जग में इच्छा इषे से, होय इन्द्र उत्पन्न ।
 जिससे मोहित हुए नर, रहे न मृद प्रसन्न ॥२७॥
 त्र कर्म करने वाले जो अपने पाप नसते हैं ।
 इ मोह से मुक्त हुये दद वली मुझे ही पाते हैं ॥२८॥
 तरे आश्रय हो करके वे जग मरम्ह से हीन हुये ।
 उरुर्म व प्रज्ञा को आप्पात्म ज्ञान में लीन हुये ॥२९॥
 त्र हुये, अधिदैव मुझे, अधियज्ञ मुझे जो जानेगा ।
 गी अन्त समय में भी बस मुझको ही पहिचानेगा ॥
 १-अधिदैव यज्ञ-भूत जो, लेगा मुझ को जान ।
 अन्त समय में भी सदा, मुझ को से पहिचान ॥३०॥
 ज्ञान विज्ञानयोग नाम का सातवाँ अध्याय समाप्त ॥

अथाष्टमोऽध्यायः ।

(अक्षर ब्रह्म योगः)

—

अक्षुण्णं कथा—

किं तदुक्तं विमर्शात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम ।
अधिभूतं च किं शोकमधिदैवं विमुच्यते ॥ १ ॥
अधिपक्षः कर्म कोऽथ देहेऽस्मिन्नुत्तम ।
प्रपायकाले च कर्म लेपोऽसि विपत्तात्मनिः ॥ २ ॥

श्री भगवान् कथा—

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽभ्यासमुच्यते ।
भूतभावोद्भवकले वितर्कः कर्मसंश्लिष्टः ॥ ३ ॥
अधिभूतं चरो मायः पुरुषमाधिदैवतम् ।
अधिपक्षोऽदमेपात्र देहे देहभुजः परः ॥ ४ ॥
अन्तःकाले च कामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम् ।
यः प्रयाति स भङ्गार्थं याति नास्त्यत्र संशयः ॥ ५ ॥
यं यं वाति स्मरन्मार्गं त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।
तं तमेवैति कीन्तेऽस्य सदा तद्भावभाषितः ॥ ६ ॥

❀ आठवाँ अध्याय ❀

(अक्षर ब्रह्म जीव)

अक्षुर्न का मत—

न बोला यह ब्रह्म कर्म अभ्यास्य और अधिभूत है क्या ।
देव पुनः क्या होता है, हो बली भाति मुझको समझा ॥१॥
ब्रह्म किसे कहते साधव ! वह तन में कैसे बसता है ।
फिर अन्त समय कैसे तुमको हे कृष्ण ! समझता है ॥२॥

श्री कृष्ण का उत्तर—

राशी 'ब्रह्म' कहाता है 'अभ्यास्य' स्वभाव सदा जानो ।
सुन्दर सृष्टी की रचना वस 'कर्म' की उलका मानो ॥३॥
भूत बही जो नरवर है अधिदैव जीव कहलाता है ।
अधिपञ्च नरों में हूँ मतिमान समझ यह जाता है ॥४॥
अन्त समय भवता मुझको तन स्थाय विश्व से जाता है ।
तात् करे मुझको प्राणी इसमें सन्देह न आता ! है ॥५॥
अन्त समय अपने मन में जिस किसी भाव का ज्ञान परे ।
तब सहित हे अक्षुर्न ! वह वस उली काच में ज्ञान परे ॥६॥

तस्मात्सर्वेषु कालेषु सामनुस्मरं शुष्य च ।

सर्वविद्वज्जगदीश्वरस्यसंशयम् ॥ ७ ॥

अभ्यासयोगयुक्तेन

चेतसा जगत्परमेश्वरम् ।

परमं पुरुषं दिव्यं

याति शार्धानुचिन्तयन् ॥ ८ ॥

कविपुराणं बहुचारितार-

मण्डोरदीपासयनुस्मरेद्यः ।

सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूप-

मादिरवर्गस्तमसः परस्तात् ॥ ९ ॥

प्रयासकाले मनसाचक्षेन

भक्त्या युक्तो योगबल्लेन वै ।

श्रुवोर्मध्ये प्राथमादेश्य सम्यक्

स तं परंपुरुषमुपैति दिव्यम् ॥ १० ॥

वदन्तं वेदविदो वदन्ति

मिशन्ति यद्यस्यो नीतरामः ।

यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति

तत्रैव परं संप्रदेयं प्रवक्ष्ये ॥ ११ ॥

सर्वज्ञाशयि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च ।

सूक्ष्मार्थावात्मनः प्राथमादित्यजोयोगधारणाम् ॥ १२ ॥

जो सदा तू भज तुम्हको अरु लड़ने हेतु लड़ा हो जा ।
य तुम्हको ही पावेमा मन तुम्हको दे, मेरा हो जा ॥७॥

जस योग से मुक्त हुआ मन जिसका नहीं भटकता है ।
१ में दिव्य लग्ना अर्जुन ! वह परं ज्ञान वा सकता है ॥

हा—इन जिसका भटके नहीं, करके निज अभ्यास ।
इस मग्न पहुँचे तभी, परं ज्ञान के पास ॥ ८ ॥

सर्वज्ञ अन्नादी आसक्त जो

अति सूक्ष्म विधाता सबका है ।

स्वि-सम तम-हीन अचिन्त्य सदा

उस में लगता मन जिसका है ॥९॥

पुनि अन्त समय निधल मन से

हो अलिङ्गित अरु योग परे ।

अङ्गी में प्राण जमाय रहे

बह परम पुरुष को प्राप्त करे ॥१०॥

सर्वज्ञ संहिप्त कहूँ उसका

वेदज्ञ जिसे “अक्षर” कहते ।

हो जलचारि जिसके द्वारा मुनि

बैरागी जिसमें रहते ॥ ११ ॥

१ इतर रोक मन हृदय बीच मस्तक में प्राण जमा करके ।

२ समाधिस्थ हो करके तू कर ओम् नामका जाप उसे ॥१२॥

सौमित्रस्यार्थं नाना कथाद्वयमप्युच्यते ।

पः प्रयाति स्वयन्देहं स याति परमां गतिम् ॥

अमल्यदेशः सद्यं यो मां स्मरति नित्यम्।

सस्याहं सुलभः शार्थं नित्यमुक्तस्य योगिनः ।

साक्षरैश्च दुर्नर्तकैश्च दुःखालम्बयित्वा स्थितम्

नाम्नुरन्वि सदात्मानः संविद्धि वरुणं वरिष्ठः ॥३॥

आइसकृन्मन्त्रोक्तः पुनरावर्तिनोऽस्तु न ।

मासुपेक्ष तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ॥३॥

सर्वज्ञानमयं सर्वं तदवस्थितमिमम् ।
विन्दुः ।

पञ्चि दुष्पसाहसून्तां तेष्वन्यावपि च यन्ताः ॥१७॥

अथर्वशास्त्रस्य नामः सर्वः प्रमत्तमहाराजस्येति ।

राधायमे प्रसीयन्ते सर्वैश्चान्यत्संशये । १८॥

भूतप्रायः स एषाच भूत्वा भूत्वा इक्षियते ।

प्रश्नार्थः प्रभवत्पदप्रयोगे ॥१६॥

परस्तस्मात् सावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तास्तु न। इति ।

५ : स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्तु न विनश्यति ॥२५॥

अभ्यक्तोऽथर इत्युक्तस्वमाहुः परमार्थं यत्किम् ।

ये प्राप्य न निवर्तन्ते कदापि कर्म नमः ॥२१॥

शुक्लः स वरः पार्ष्ण मत्स्या सान्यस्तद्वन्ध्या ।

पश्यान्तः स्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम् ॥२३॥

घर को अपने पाला को इसे याद कर लेता है ।
 शक्ति देह को त्याग करे वह मोक्ष सभी पा लेता है ॥१३॥
 अचित्त को करके जो मेरा ही इन्द्रिय प्रमान करे ।
 मैं जो मुक्त हुआ सोभी मुझसे वह रहता नहीं परे ॥१४॥
 पुनर्जन्म दुःख का घर है अक शीघ्र नष्ट हो जाता है ।
 लिङ्ग इसे पा लेता है वह पुनर्जन्म नहीं पाता है ॥१५॥
 ऋक्ष लोक से लेकरके सब लोक लौट फिर आते हैं ।
 एक को सब पा जाते हैं सबहीं सदा रम जाते हैं ॥१६॥
 ज्ञा का दिवस युगों का है तिमि रात सहस्रों गुण जानो ।
 इच्छातत्त्व जाना जिसने तुम योगीजन उत्तमोत्तमो ॥१७॥
 न जाने पर अम्यक्त पुरुष सब स्पष्ट प्रगट हो जाते हैं ।
 बि रात भये अदृश्य हुए अम्यक्त पुनः कहलाते हैं ॥१८॥
 ऋक्ष भूत समुदाय सदा पैदा होता है, मरता है ।
 अदृश्य रात को हो जाता दिन में सब अदृश्य करता है ॥१९॥
 अदृश्य भूत रात से ऊपर कुछ अन्य मात्र अस्पष्ट हुआ ।
 सब भूतों के नष्ट जाने पर वह नहीं कमो है नष्ट हुआ ॥२०॥
 अदृश्य अम्यक्त जिसे कहते वह परं मोक्ष बढ़लाता है ।
 म परम धाम को पाकर सब नहीं लौट जगत में आता है ॥२१॥
 एकाग्र चित्त को मन्त्रि करे वह उसी ब्रह्म को पा जाये ।
 जिसके अन्दर सब भूत सबों जो सब भूमण्डलपर छाये ॥२२॥

यत्र काले त्वनाशुतिमाशुतिं चैव योगिनः ।
 प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ ॥२॥
 अग्निज्योतिरहः शुक्रः पश्मासा उत्तरायणम् ।
 तत्र प्रयाता वप्स्यन्ति मन्त्र मन्त्रविदो जनाः ॥३॥
 धूमो रात्रिस्तथा कुम्भः पश्मासा दक्षिणायनम् ।
 तत्र चान्द्रमत्तं ज्योतिषोर्गो प्राप्य निवर्तते ॥ ४ ॥
 शुक्ल कुम्भे मती क्षते जगतः शरयते मते ।
 एकया वात्पनाशुतिमन्त्रयावर्तते पुनः ॥ ५ ॥
 नैते मती पार्श्व आनन्योमी शुद्धति करचन ।
 तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवत्युनि ॥ ६ ॥
 वेदेषु यज्ञेषु तपश्चुचैव
 दानेषु वस्तुषु फलं प्रदिष्टम् ।
 अस्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा
 योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम् ॥७॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु मन्त्रविज्ञानां योगशास्त्रे
 श्रीकृष्णार्जुनसंवादे अक्षरब्रह्मयोगो
 नाम अष्टमोऽध्यायः ।



३ काल सुयोगी स्वयं देह नहिं लीट यहाँ फिरघाते हैं ।
 सबल यहाँबरकर लीटें हम सभी तुम्हें समझाते हैं ॥२३॥
 ४ आग उजाला शून्यकपल उचर पथ के छः मान सखे !
 इस धरे गर इती समय यह जाय मझके पास सखे ! ॥२४॥
 निमत बुझा कर कृष्ण पथ दक्षिण पथ के छः मान यहाँ ।
 जैसे मर कर जा चन्द्रलोक आकर पावे यह ज्ञान यहाँ ॥२५॥
 ५ शुक कृष्ण गति दोही है जो सदा सुनावन जानी है ।
 इती में आत्मा मुक्त रहे, दूजी में जानी जानी है ॥२६॥
 ६ दोनों जो योगी जाने यह कभी मोह नहिं पाया है ।
 हम योगी सदा बनी अमृत हैं ! योगी आनन्द उठाया है ॥२७॥
 दोहा—वेद ब्रह्म, तप, दान से, उचम कल मिल जाय ।
 योगी उससे भी बल्य, परं ब्रह्म पद पाय ॥

अक्षर ब्रह्म योग नाम का आठवाँ अध्याय समाप्त ॥



अथ नवमोऽध्यायः

(राजनिद्या राजगुह्ययोग)

(भक्ति की महिमा)

—

श्री भगवान् उवाच—

इदं तु ते गुह्यतमं

प्रवक्ष्याम्यनष्टद्वये ।

ज्ञान विज्ञानसहितं यज-

ज्ञात्वा मोक्षयतेऽश्रुमात् ॥१॥

राजनिद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम् ।

प्रत्यक्षावयवमर्ध्वं सुसुखं कर्तुमव्ययम् ॥२॥

अश्वदधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परन्तप ।

अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि ॥३॥

यया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना ।

मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहंतेष्ववस्थितः ॥४॥

न च मत्स्थानि भूतानि परम मे योगमैश्वरम् ।

भूतभृश च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः ॥५॥

नवा अध्याय

(राज विद्या राज गुप्त योग)

भक्ति की महिमा



श्री कृष्ण बोले—

द्वेष-द्वेष रहित हो तुम सुनो, कई ज्ञान विज्ञान ।

जाते दुख से युक्त हो, और भिटे अज्ञान ॥

द्वेष नहीं करते अर्जुन ! विज्ञान ज्ञान बतलाता है ।

बहुत सभी जायें तेरे वह गुप्त भेद समझाता है ॥१॥

ह विद्याओं का राजा है अति उत्तम गुप्त विमल जानो ।

जिसका है प्रत्यक्ष सदा, है धर्म सुखद अव्यय मानो ॥२॥

खा इसमें जो नर न धरे, हे पार्थ ! नहीं मुझको पाते ।

जिस पृथु लोक में भ्रमण करे वह बारम्बार यहाँ आते ॥३॥

मैं हूँ अव्यक्त जगत्, साग मुझ से परिपूर्ण बताते हैं ।

मैं तो भूतों में रहूँ नहीं, मुझ में सब भूत समाते हैं ॥४॥

वास्तव में भूत नहीं मुझ में यह क्षेत्र योग का जानो तुम ।

उत्पन्न करूँ, पाखूँ सबको, पर रहूँ न उनमें मानो तुम ॥५॥

एषाश्चतुस्त्रिंशो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान् ।

तथा सर्वाणि भूतानि एतदानीं ह्युच्यते ॥१६॥

सर्वभूतानि कीन्तेष प्रकृति यान्ति यामिकात् ।

कल्पयते पुनस्तानि कल्पादौ विश्वरूपम् ॥१७॥

प्रकृतिं स्वावष्टभ्य विमृशामि पुनः पुनः ।

भूतप्रायमिदं कृत्स्नमप्यहं प्रकृतेर्वशात् ॥१८॥

न च मां तानि कर्माणि,

निबध्यन्ति यनञ्जय ।

उदासीनपदासीनमतच्छ्रुत्वा

तेषु कर्मसु ॥ ६ ॥

यथाभ्यसेन प्रकृतिः सृपते सत्त्वराचरम् ।

हेतुनामेव कीन्तेष जगद्विपरिवर्तते ॥ १० ॥

अवजानन्ति मां मूढा मातुरी तदुपाधितम् ।

एवं भाववजानन्ता मम भूतमहेत्यस्म ॥ ११ ॥

मोक्षया मोक्षकर्माद्यो मोक्षज्ञाना विवेकतः ।

राजसीमातुरी चैव प्रकृति मोहिनीं भिताः ॥ १२ ॥

महात्मानस्तु मां पार्श्वं देवीं प्रकृतिमाभिताः ।

कथन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमन्ययम् ॥ १३ ॥

सर्वतः कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च हृदयताः ।

नमस्पन्तश्च मां भक्त्या नित्यशुक्ला उपासते ॥ १४ ॥

वे जिमि एवम समाया है वह नित सर्वत्र विचरता है ।

जालि सभी प्राणी हुम्क से, जानी मन में वह परता है ॥६॥

। अन्त कल्प का होता है नर मेरी प्रकृति को पाते ।

। अन्त कल्प के होने पर हुम्क से हैं जन्म पुनः पाते ॥७॥

। हति में अपनी लिखा हुआ मैं बार बार उपजाता हूँ

। कल्प हुए सब भूतों को कर्मों का फल दितवाता हूँ ॥८॥

। जो मैं स्वयं नहीं फंसेता नित उदासीन ही रहता हूँ ।

। कर्म नहीं बाँधे हुम्क को होकर अस्तक सब सदा हैं ॥

। दोहा — उदासीन नित मैं रहूँ, हो कर सदा अस्तक ।

कर्म होते नहीं बाँधते, सुनो पार्थ ! यम भक्त ॥ ६॥

हुम्कसे पाकर आदेश प्रकृति रचती है विश्व बराबर को ।

। हे अर्जुन ! इससे लग पाता जाने जाने के चकर को ॥९॥

। सब भूतों का मैं ईश्वर हूँ यह भाव नहीं पहिचाना है ।

। नर बूढ़ निरादर करते हैं उन शरी हुम्कको खाना है ॥१०॥

। सब पूषा गई आशा उनकी अरु कर्म ज्ञान से हीन हुए ।

। वे घर मोहित करने वाले उन के स्वभाव में लीन हुए ॥११॥

। पर महान आत्मा वाले नर देवी स्वभाव को पाते हैं ।

। हुम्क अव्यय का सिमरण करते हुम्कमें ही ध्यान लगाते हैं ॥१२॥

। यह अत वाले जो यत्न करें गुण-कीर्तन मेरा करते हैं ।

। वे भक्त प्रशाम करें हुम्कको नित ध्यान हुम्की में करते हैं ॥१३॥

ज्ञानयज्ञेन चाप्यग्नौ यजन्तो ब्रह्मणादिते ।

एकत्वेन हव्यकृत्वेन बहुधा निर्यतोऽमुलम् ॥ १५ ॥

अहं ब्रह्महं यज्ञः स्वप्नादब्रह्मनीलवम् ।

मन्त्रोऽहं महामेवाज्यमहमग्निमहं ब्रह्मम् । ॥ १६ ॥

विवाहमस्य जगती माता पाता विवामहः ।

देवा पवित्रमोक्षार अस्तुताय यस्तुतेव च ॥ १७ ॥

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी

निवातः शरणं सुहृत् ।

प्रभवः प्रलयः स्थानं

निधानं वीर्यमप्ययम् ॥ १८ ॥

सपाम्यदमहं वर्षं

निगृह्याम्युत्पृजामि च ।

अमृतं चैव सृजुष्ये

सदसश्चाहमजुर्नि ॥ १९ ॥

वैविद्या मां सोमपाः पूतवापा

पवीरिष्टा स्वर्गंति प्रार्थयन्ते ।

ते पुण्यमासाद्यतुरेन्द्रलोकं

मरुतंति दिव्यान्दिनि देवभोमान् ॥ २० ॥

ते तं श्रुत्वा स्वर्गलोकं विशालं

चीन्धे पुण्ये मर्त्यलोकं निशुन्धि ।

इ ज्ञान-मय के प्राण ही, मुक्त निस्व-रूप की भजते हैं ।

इ एक कहें, कुछ शयक कहें, मुक्तकोशु मांतिममकते हैं ॥१५॥

पूजा हूं, मैं बल, स्वधा, औपनि ऋ मन्त्र कहाता हूं ।

(काम दयन में भी मैं हूं इन सबमें आप समाया हूं ॥१६॥

कान्तिता ऋ माता हूं, दादा हूं, सबको मैं पातू ।

मुक्त ज्ञान ओंकार सदा ऋक् साय पशुर में भी मैं हूं ॥१७॥

ज की वति हूं, मैं पालक हूं, सब का स्वामी कहाता हूं ।

(महा दुरा देखनदास, मैं जग में प्रलय मचाता हूं ॥

स्वप्न करूं फिर से जगको, मैं शम्भु, निकास, निधान सबे ।

(मित्र समीक्षा द्विचिह्नक, अविनाशी, दीप्त महान सबे ॥१८॥

मैं पूर सभी को देता हूं, वर्षा रोहूं ऋ वसताई ।

मैं अमृत हूं ऋ मीत सदा, सब और असुर मैं कहलाई ॥

दोहा—पूज हूं मैं वारी, का, करूं प्रदत्त भी त्याग ।

सत्य और अमृत सदा सत्य असुर बहु भाग ॥१९॥

जो स्वर्ग लोक की इच्छा से

द्विचिह्न सोमस यजन करें ।

सुर लोक आय वे सुसोमोर्ध्व

जो निष्पत्ती मन यजन करें ॥२०॥

उस महा स्वर्ग में भी सुसो

जब तक सुरस्वर्ग नगावे है ।

एवं शरीरमनुग्रहणा

गतामृतं ययधमा समन्ते ॥२१॥

अनन्याभिनित्यन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥२२॥

येऽनन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यभिधिपूर्वकम् ॥२३॥

अहं हि सर्वयज्ञानां मोक्षाय प्रभुरेव च ।
न तु मामभिवान्ति तत्त्वेनातृरूपवन्ति ते ॥२४॥

यान्ति देवप्रता देवान् पितृन्पान्ति पितृप्रताः ।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति सद्यास्त्रिनोऽपि माम् ॥२५॥

पर्वं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।
तद्दहं भक्तपुष्टयश्चरन्ममि प्रयतात्मनः ॥२६॥

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि च ।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्तुभ्यं वदम्यहम् ॥२७॥

शुभाशुभफलैरेवं मोक्षयसे कर्मबन्धनैः ।
संन्यासयोगशुक्लात्मा विदुक्तो साहस्रैर्ष्यति ॥२८॥

समोऽहं सर्वभूतेषु

न मे द्वेष्योऽस्ति न विषः ।

नै मजन्ति तु मां भक्त्या

यपि ते तेषु चाप्यहम् ॥२९॥

तुं वेद कथित जो कर्म करे

इस जन्म में आते जाते है ॥२१॥

इ और बिना सोचे जो नर बल ध्यान हुकी में धरते हैं ।

व ऐसे योगी पुरुषों का निर्वाह जगत में करते हैं ॥२२॥

। अन्य देवता को पूर्वे अज्ञा से भक्ति सहित मन की ।

ह भी मुझको ही भजते हैं पर है विधि हीन किया उनको ॥२३॥

। यज्ञों को खाने-वाला मैं स्वामी उनका कहलाया ।

। नर यह कृत्य नहीं जाने वह बारम्बार जनम जाता ॥२४॥

देवों को पार्ये देव मत्नी, पितरों का पूर्वे गिर मिलें ।

पुनि भूतमिलें जो उन्हें भजें, सम भक्त मिलें आकर मुझमें ॥२५॥

जो सब, पुण्य अरु फल पानी भक्ती से मुझको है देता ।

मैं प्रेम सहित लेता हूं सब वह मुझको अपना कर लेता ॥२६॥

जो तू करता, जो कुछ खाता जो, दान करे, जो दान करे ।

पुनि जो कुछ त्यागकरे अर्जुन ! वह सब मुझको अर्पण करदे ॥२७॥

सन्पात योग में लया हुआ इस भांति मुक्त हो जायेगा ।

कर्मों के फल में नहीं बंधा निश्चय से मुझ को पायेगा ॥२८॥

व्यापक समस्त सभी में हूं कोई कम शयु न ध्याता है ।

जो भजे मुझे वह मुझ में है, उनमें यह जीव इमारा है ॥

दोहा—भूतों में सब मान से, मैं ही रहा समाप्त ।

मित्र, शत्रु मेरे नहीं, भक्त मुझी में आप ॥२९॥

अपि चैतुदुराचारो भजते दण्डवत्प्रणम्य ।
 साधुरेष स भक्तव्यः सम्प्रगम्यवसितो हि सः ॥३०॥
 चिः भवति धर्मात्मा शास्त्रच्छान्तिं निमच्छति ।
 कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रशस्यति ॥३१॥
 मां हि पार्थ ज्येष्ठपुत्रो वेऽपि स्युः नृपतेः पथः ।
 शिष्यो वैद्यास्तथाशूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥३२॥
 किं पुनर्भ्रातृणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा ।
 अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम् ॥३३॥
 मन्मनो भव भक्तो मयाजी मां नमस्कुरु ।
 मामेवैष्यसि युवस्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥३४॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु भगवद्गीतायां योगशास्त्रे
 श्रीकृष्णार्जुनसंवादे राजविद्या राजगुह्ययोगो
 नाम नवमोऽध्यायः ॥६॥



कोई दुष्ट दुर्गचारी एकाग्रचित्त से भजे सुखे ।
 करो उसको, उसका संकल्प ठीक होसके सुखे ॥३०॥
 ग जन्मी होता है वह परम ज्ञानि : को पाता है ।
 के पुत्र ! समझ लो तुम नहिं मेरा भक्त मन्ता है ॥३१॥
 य, शत्रु अथवा नारी, श्री अन्न पान पीनो वालो ।
 श्री शरणा सकट लेवे वह निश्चय फल मली पा से ॥३२॥
 फल का कहना ही क्या हो पुण्यशाल को भक्त सखे । ॥
 हा विनाशी जारमें तू मुझको भजकर हो मुक्तसखे ॥३३॥
 १—दुष्ट में मन दो, भक्त हो, पूजो, करो : काम ।
 इस प्रकार मुझमें रमो, पहुँचोगे सब काम ॥ ३४॥

एक विधा राज गुप्त योग नाम का तथा अम्बाय चमत्त ॥



अथ दशमोऽध्यायः ।

(विभूति योग)

श्री भगवान् उवाच—

भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वचः ।
यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया ॥१॥
न मे विदुःसुरमणाः प्रभवं न महर्षयः ।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः ॥२॥
यो मामजमनादि च वेत्ति लोकमहेश्वरम् ।
असंमूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥३॥
बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहः क्षमा सत्यं दमः शमः ।
सुखं दुःखं भयोऽभावो भयं चाभयमेव च ॥४॥
अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः ।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः ॥५॥
महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा ।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः ॥६॥



अध्याय

(विभूति योग)

श्री भगवान् बोले—

हा-कृष्ण कहे अर्जुन ! सुनो, हितकारी उपदेश ।

वस गूढ़ यह वचन है, होवे ज्ञान विशेष ॥१॥

देव महा ऋषि भी जग में मेरी उत्पत्ति नहीं जानें ।

मादि भूत हूँ भूतों का वह रूप मेरा कब पहचानें ॥२॥

मुझे अजन्मा आदि रहित लोभों का ईश्वर कहता है ।

यों में मोह रहित होकर वह मुक्त पाप से रहता है ॥३॥

मत्स्य, वामा, इन्द्रियनिग्रह, अरु जन्म, मरण सुख दुःख-सारे ।

। बुद्धि ज्ञान, मयश्मय जिन्हें, नहि मोह पास में फटकारे ॥४॥

ह, अपयश, दान, अहिंसा, तप, समता, संतोष रहे मन में ।

मझे ही होते हैं अर्जुन ! यह भिन्न भाव सब भूतन में ॥५॥

। सात महा ऋषि, चार बृद्ध, मनु की सन्तान जगत्-सारा ।

। मेरे भावों वाले हैं, मेरा संकल्प रचन हाथ ॥६॥

एतां विभृति योर्म च मम यो वेति तत्त्वतः ।
 सोऽविकम्प्येन योमेन शुन्यपते नात्र संशयः ॥ ७ ॥
 अहं सर्वस्य प्रभवो सचः सर्वं प्रवर्तते ।
 इति कस्या भवन्ते मां श्रुत्वा ज्ञानमन्दिराः ॥ ८ ॥
 मन्त्रिणा मनुजैः प्राच्या बोधयन्तः परस्परम् ।
 कथयन्तश्च मां नित्यं तुभ्यन्ति च स्मन्ति च ॥ ९ ॥
 तेषां सततपुद्गलां ममतां शीतिपूर्वकम् ।
 ददामि बुद्धियोर्म तं येन ज्ञानमन्दिरं ते ॥ १० ॥

तेषामेवानुकाशार्थं

सदमज्ञानजं तवः

ज्ञानमन्दिरं तस्मादज्ञानं

ज्ञानदेवेन भास्वता ॥ ११ ॥

अतुल्यं तवाच—

परं जज्ञा परं धाम पवित्रं कर्म भवत् ।
 गुरुं शारवतं दिव्यमोदिदेवमजं विश्वम् ॥ १२ ॥
 आहुस्तवाभूयः सर्वे देवर्षिर्वाग्देवता ।
 अस्मिन्ने देवलो व्यासः स्वयं चैव प्रवीणि मे ॥ १३ ॥
 सर्वमेतद्वत् अन्ये यन्मां वदसि केशव ।
 न हि ते मयावन्धार्कि बिभुर्देवा न दास्यः ॥ १४ ॥

इस मेरी विभूति को जो जर निर योग उत्प से लाल पाते ।
 सन्देह नहीं इसमें कुछ भी वह निश्चल योगी हो जाते ॥९॥
 मैं सब को पैदा करता हूँ, मुझ से ही जब मैं हलचल हूँ ।
 यह ज्ञान मुझे मजबूत प्रकृति तिनका मन होता निर्मल है ॥१०॥
 मुझ में जो बिच रहाते हैं अरु प्राण मुझे अर्पण करते ।
 आनन्दित हो मुझ में समते जो भक्त मेरा कीर्तन करते ॥११॥
 ये लगातार मुझ को भजते अरु सच्चा प्रेम दिखाते हैं ।
 मैं ज्ञान योग उनसे देता जिससे मुझ को आ जाते हैं ॥१२॥
 उन के मन में मैं बसता हूँ अरु कृपा उन्हीं पर करता हूँ ।
 निर ज्ञान दीप की जगला से अज्ञान अन्धेरा करता हूँ ॥

श्लो॥—उनके मन में बैठ में, करता दया महान ।

ज्ञान दीप की ज्योति से, कहुँ अष्ट अज्ञान ॥१३॥

अर्जुन का कथन—

अर्जुन बोला 'हो परमब्रह्म तूने पद्म भाम अति दायन हो ।
 सब आती देव अब तुम्हें कहे तुम दीनपुरुष सनातन हो ॥१४॥
 अग्नि अब सब यही कहे तुनको देवर्षी नासद यही कहे ।
 देव उग्रहन्ता अतिवजारे अरु स्वयं आननीयही कहे ॥१५॥
 जो कुछ भी तुमने अभी कहा वः विलकुल सत्यउच्चार है ।
 दानव अरु देव नहीं जानें जो असली रूप तुम्हारा है ॥१६॥

लघुमेघाश्चराह्वयार्त्तं वेत्स्य त्वं सुकृपेयज ।
 भूतमाधन भूतेश देवदेव अमृतते ॥ १५ ॥
 वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या आत्मविभूतयः ।
 यामिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्वं व्याप्य सिद्धसि ॥ १६ ॥
 कथं विद्यामहं योमिस्त्वां सदा परिचिन्दयन् ।
 केषु केषु च मादेषु चिन्त्योऽसि पतनप्रदा ॥ १७ ॥
 विस्तरेशात्पदो योमं विभूतिं च अनार्दन ।
 भूयः कथय तृप्तिर्हि मृतयतो नास्तिमेऽदृत ॥ १८ ॥

श्रीभगवान्ब्रूवाच

इन्म ते कथयिष्यामि दिव्या आत्मविभूतयः ।
 प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे ॥ १९ ॥
 अहमात्मा गुडाकेश
 सर्वभूताशयस्थितः ।

अहमादिष्व मर्त्यं च

भूतानामन्त एव च ॥ २० ॥

आदित्यानामहं विष्णुर्धोतिर्षा रविरंशुमान् ।
 मरीचिर्महतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी ॥ २१ ॥
 वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः ।
 इन्द्रियाणामिनमास्मि भूतानामस्मि चेतना ॥ २२ ॥

भूतों को पैदा करते हो देवों के देव अमरार्था ।
 दुःखीजन हो भूतेश तुम्हीं हो आप सर्व अपने ज्ञाता ॥१५॥
 तुम जिन विभूतियों के द्वारा इन सब लोगों पर छाते हो ।
 वह दिव्य विभूति तुम अपनी क्यों दमें नहीं बतलाते हो ॥१६॥
 तेरा निज चिन्तन काके भी तुम्ह योगों की कैसे जानूँ ।
 किन मागों से मैं ध्यान करूँ मैं कैसे तुम्ह को पहिचानूँ ॥१७॥
 निज बल को और विभूती को विस्तारपूर्वक पुनः कहा ।
 तेरी इन अमृत वाली से हे कृष्ण ! तृप्ति मम कभी न हो ॥१८॥

श्रीभगवान् बोले—

रोते श्रीकृष्ण विभूतिन का विस्तार नहीं बतला सकता ।
 हे हृष्य विभूती ओ मेरी उन का ही मैं वर्णन करता ॥१९॥
 हे गुडाकेश ! सब पुरुषों के मन में आत्मा बस मैं ही हूँ ।
 मैं आदि, मध्य सब भूतों का अरु अन्त उन्हीं का मैं ही हूँ ॥

बोद्धा—सब पुरुषों के हृदय में, आत्मा हूँ बलवान् ।

सब भूत का हूँ सखे ! आदि, मध्य, अन्तमान ॥२०॥
 आदित्यों में हूँ विष्णु तथा तेजोमय सूरज ज्योतिन में ।
 मैं हूँ मरीचि मासृगण में हूँ चन्द्र सखे ! नक्षत्रन में ॥२१॥
 वेदों में साम हूँ आनो देवों में वासव कहलाता ।
 इन्द्रिन में मन भी मैं ही हूँ नर में चेतन मैं बन जाता ॥२२॥

रक्षायां शंकरास्मि वितेशो गङ्गाधरात् ।

वसुनां वायव्यास्मि मेरुः शिष्यनिष्ठासु ॥ २३ ॥

पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम् ।

सेनानीनामहं स्कंधः सुरसायस्मि सामरः ॥ २४ ॥

महर्षीणां सुसुरहं मितामरमेकजघरह् ।

चक्षुर्मां जपपद्मोऽस्मि रथावगाथां हिमालयः ॥ २५ ॥

अरुणस्यः सर्वशुभाणां देवर्षीणां च नाभदः ।

गन्धर्वाणां विश्वरथः सिद्धानां वनिलो ह्रुनिः ॥ २६ ॥

उष्णैः श्वेतमस्वानां विद्धि मातृलोचनसु ।

पेशवतं यजेन्द्राणां नगाणां च वदविजह् ॥ २७ ॥

आयुधानामहं वज्रं पेन्नामस्मि वामधुक् ।

प्रजनस्यास्मि वन्द्यः सर्वाद्यास्मि बाहुर्ध्रुक् ॥ २८ ॥

अनन्तस्यास्मि नागानां वरुणः पारस्तामहं ।

पितृशार्पणमाचारिणं वमः संवमतामहम् ॥ २९ ॥

महादधास्मि दैत्यानां

कालः कल्पतामहम् ।

सृमाणां च सुमेन्द्रोऽहं

वैनतेयस्य पदिशाम् ॥ ३० ॥

परमः वचनामस्मि गमः शस्त्रभूतामहम् ।

भृषाणां मकरास्मि स्रोतशामस्मि व्याह्वरी ॥ ३१ ॥

रुद्रों में शंकर सुखे कहो, हूँ कुबेर यक्ष भी वसुओं में ।
 वसुओं में व्यास कहाता हूँ मेरु पर्वत हूँ किस्रों में ॥ २३॥
 मैं पुरोहितों में “वृद्धस्पती” हूँ मुख्य पुरोहित कहलाता ।
 ‘कार्तिक’ हूँ सेनापतियों में, सर में ‘सोमर’ पदवी पाता ॥ २४॥
 ऋषियों में ‘सृष्ट’ सुखे जानो, बायी में “ओम्” कहाता हूँ ।
 जय-वज्र सदा यहाँ में हूँ, नव में दिग्गिरि कहलाता हूँ ॥ २५॥
 दक्षों में वीरल सुखे कहो, देवर्षिन में नाश्रु जानो ।
 मन्त्रियों में हूँ ‘चित्रम्भो’ सिद्धों में ‘कपिल’ सुखे मान ॥ २६॥
 श्री अमृत से उत्पन्न हुआ पोकी में उत्थान्धरा कहो ।
 ‘वेरावत’ सभी यज्ञों में हूँ पुरुषों में राजा सुखे बड़ो ॥ २७॥
 हूँ शिष्याओं में ‘वज्र’ बली, अरु काम चेतु पाणों में हूँ ।
 बन ‘वान देव’ में सृष्टि रत्न पुनिवासुः सवस्रों में हूँ ॥ २८॥
 नाथों में हूँ मैं ‘शिवनाथ’, अक्षर में ‘वरुण’ सुखे जानो ।
 मैं बना अर्पमा पितरों में, ‘यमराज’ शासकों में मानो ॥ २९॥
 विनये बालों में काल सदा, छ्वाद मरु दैत्यों में हूँ ।
 वसुओं में तिह्र कहाता हूँ अरु मरुद पत्नियों में मैं हूँ ॥

दोहा—दैत्यों में प्रह्लाद हूँ, गिनन द्वार में काल ।

वसुओं में मैं तिह्र हूँ, पश्चिम मरुद सभाल । ३०॥

मैं शस्त्र बुनों में ‘परशुराम’ हूँ पवन सुषावन अग्नि में ।

नादियों में गंगा बदलाऊँ, हूँ मगधमण्डल अलवरिन में ॥ ३१॥

न परीक्ष्यतादित्यस्तु मर्षं चैवाहमर्जुन ।

अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः इत्युक्तं तत्र ॥ ३२ ॥

अक्षराक्षामकागोऽस्मि इन्द्रः सामातिकस्य च ।

अहमेवाक्षयः कालो धाताऽहं निश्चिन्तितः ॥ ३३ ॥

मृत्युः सर्वहरवाहमहमवध इति च तत्र ॥

कीर्तिः श्रीर्वाक् च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा ॥ ३४ ॥

हृत्साम तथा साम्नां वायशी इन्द्रसामहम् ।

मासानां मार्मदीर्घोऽङ्गुलानां कुसुमाक्षः ॥ ३५ ॥

यत्तु हस्तयशामग्निं तजस्तेजस्विनामहम् ।

जपोऽस्मि अक्षराजोऽस्मि सत्त्वं सत्त्वयशामहम् ॥ ३६ ॥

हृषीनां वासुदेवोऽस्मि पाण्डुराणां धनंजयः ।

हृदीनामप्यहं व्यासः कविनाम्बुधनः कविः ॥ ३७ ॥

इण्डो दमयशामग्निं नीतिरस्मि शिरीषतारु ।

मीनं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवशामहम् ॥ ३८ ॥

यथापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन ।

न तदस्ति विना यत्स्यान्मयादृतं चराचरम् ॥ ३९ ॥

नान्तोऽस्ति कस्य दिव्यानां विभूतीनां परमाव ।

एष हृद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया ॥ ४० ॥

यद्यद्विभूतिमस्तत्त्वं श्रीमद्विश्वमेव वा ।

तच्छेदेवावगच्छ त्वं समतेजोऽङ्गुलम्यवम् ॥ ४१ ॥

आरम्भ जगत् का हूँ ! अर्जुन अरु मन्त्र, अन्त भी पहिचाना
 निघाओं में 'अध्यात्म' सुद्धा वक्तव्य में 'वाद' इसे मानो ॥३२॥
 हूँ अक्षर अक्षर में मैं पुनि 'इन्द्र' समाप्तों में मैं हूँ ।
 अरु काल सदा में अविनाशी, व्यापक हूँ, पारस्य करता हूँ ॥३३॥
 होने वालों का कारण हूँ हूँ मौल्य सभी हस्ते वाली ।
 'मति' कीर्ति पाक भी स्मृती चमत् धीरस्य धरने वाली ॥३४॥
 'हूँ' साम मान में 'बृहत्' सदा जन्मों में 'गायत्री' में हूँ ।
 'मंगलतिर' हूँ बारहसाधों में 'कुसुमाकर' अस्तुओं में मैं हूँ ॥३५॥
 छल करने वालों में 'ज्यूषा' तेजस्वी का हूँ तेज सखे ।
 जय' में हूँ 'विद्यय' भी मैं हूँ ॥३६॥ का सत्य विश्व सखे ॥३६॥
 हूँ वासुदेव वृष्णों कुल में अरु पाण्डव में चन्द्रप जानो ।
 पुनि व्यास नित्य हूँ मुनियों में कवियों में, उद्योगपहिचानो ॥३७॥
 मैं नीति विजेताओं की हूँ । शासक का 'दण्ड' कहाता हूँ ।
 हूँ 'मीन' मुक्त मैदों में मैं, शानी को दान बताता हूँ ॥३८॥
 शुभ से उत्पन्न सभी वर हैं अर्जुन । तुम को बल्लाहों में ।
 शुभ बिना चरावर जगत् नदी, यद् भेद तुम्हें समझाऊँ मैं ॥३९॥
 इन मेशी दिव्य विभूतिन का कुछ जन्म नहीं जय ने पाया ।
 उसका कुछ सार तुम्हें अर्जुन ! दृष्टान्त रूप से बतलाया ॥४०॥
 ऐश्वर्य युक्त लक्ष्मी वाला अरु शक्ति युक्त जो कुछ जय में ।
 यद् सब उत्पन्न शुभी से है यम तेज अंश है उन सब में ॥४१॥

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवानुर्न ।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ॥ ४२ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे विभूतयोगो
नाम दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥



दोहा-अर्जुन ! करना है वृथा, और अधिक विस्तार ।
मेरा तो एक अंश ही, पूर्ण जगत आधार ॥४२॥

विभूति योग नाम का दशमं अध्याय समाप्त ॥



अथ एकादशीऽध्यायः ।

(विश्वरूप दर्शन योग)

अर्जुन उवाच—

मदनुग्रहाय परमं सुखमश्नात्सहस्रंक्षितम् ।
यत्प्रयोक्तुं वचस्तेन मोक्षोऽयं विगतो मम ॥ १ ॥
भवाप्स्यमीहि भूतानां श्रुती दिव्यदृष्टे मया ।
त्वत्तः कमलरत्राच्च सहस्रनात्मनश्चि चाक्षयम् ॥ २ ॥
एवमेतद्यथाह स्वमात्मानं परमेश्वर ।
द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमेश्वरं पुरुषोत्तम ॥ ३ ॥
मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति श्रमो ।
योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमन्यवम् ॥ ४ ॥

श्री भगवानुवाच—

पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः ।
नानाविधानि दिव्यानि नादावर्णाकृतानि च ॥ ५ ॥
पश्यादित्यान् वसून् रुद्रानरिवनौ मरुतस्तथा ।
वहन्यदष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्याणि भारत ॥ ६ ॥

ग्यारहवां अध्याय

(विश्व रूप दर्शन योग)

अर्जुन ने कहा—

अर्जुन बोला भगवन ! तुमने अध्यात्म ज्ञान बतलाया है ।
 मुझसे अति मधुर वचन कह कर मेरा सब मोह हटाया है ॥१॥
 उत्पत्ती और प्रलय कारण सब भली भाँति समझाया है ।
 हे कमल-पत्र-आँखों वाले ! अक्षय माहात्म्य बताया है ॥२॥
 निज को परमेश्वर कहते हो, मैं सत्य मानता हूँ इसको ।
 वह रूप ईश्वरी दिखलाओ, इच्छा मेरी देखूँ उसको ॥३॥
 यदि आप जानते हैं स्वामी वह रूप देख मैं सकता हूँ ।
 अचिन्ताशी रूप दिखलाओ अब योगेश ! विनय मैं करता हूँ ॥४॥

श्रीकृष्ण का उत्तर—

हे पार्थ ! देख तू रूप मेरे हैं भिन्न भिन्न रंगों वाले ।
 यह दिव्य अनूपम है अनेक रूपों वाले, वर्यों वाले ॥१॥
 आदित्य, रुद्र, वसु, अश्विन, को मरुतोंको भास्त ! देख अभी ।
 पहिसे जो कभी नहीं देखे आश्चर्य सभी तू देख अभी ॥६॥

इहैकस्य जगत् कृत्स्नं पश्चाद्य क्षणोत्तरम् ।
 मम देहे शुद्धाकेश पञ्चान्यद्द्रष्टुमिच्छसि ॥ ७ ॥
 न तु मां कवयो द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा ।
 दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगद्वैतम् ॥ ८ ॥

संक्षेप उवाच—

एवमुक्त्वा ततो राजन् महायोगीश्वरो हरिः ।
 दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम् ॥ ९ ॥
 अनेकवक्त्रजनकमनेकाक्षद्वन्द्वरूपम् ।
 अनेकद्विचररूपं दिव्यानेकोद्यताक्षुषम् ॥ १० ॥
 दिव्यमान्ध्याम्बरधरं दिव्यजम्बूद्विपरम् ।
 सर्वाधिर्मयं देवजन्तं विररतोमुखम् ॥ ११ ॥
 दिवि सूर्यसदृसस्य भवेच्च गगदुत्थिता ।
 यदि माः सुखी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः ॥ १२ ॥
 तत्रैकस्य जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा ।
 कवयश्च देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा ॥ १३ ॥
 ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टयोना धनञ्जयः ।
 प्रशम्य शिरसा देवं कृष्णञ्जलिमाधत ॥ १४ ॥

अर्जुन उवाच—

पश्यामि देवांस्तत्र देव देहे सर्वांस्तथा भूतदिदोऽर्श्ववत् ।
 अथास्मीहोऽकमलाहमस्यद्विषसर्वाक्षुर्वाधिदिव्यात् ॥ १५ ॥

देहा-हारी अराधन अवत को, देख मेरे तन मांदि ।

गुहावेश ! तू पूर्ण कर जो इच्छा मन जाहि ॥१०॥

पर इन साधारण नेत्री से नहि रूप देख तू पावगी ।

देखा हूँ तुमको “दिव्य भेष, वह दिव्य वीथ दिखाएगा” ॥११॥

संजय बोला—

संजय बीसे हे महाशय ! यह कहा जमी योगेश्वर ने ।

वह रूप ईश्वरी दिखाएगा देखा हो चकित अर्जुन ने ॥१२॥

नाना रूप आँखों वाला था अठ विविध रूप था लिये रूप ।

था बहुत दिव्य भूषण धारे, थे दिव्य शस्त्र कामें उसके ॥१३॥

माला कपड़े थे दिव्य सभी अठ दिव्य हार्नमल लेपन था ।

अति अद्भुत कीर अनन्त देव सूर्यज व्याप्त उसका तन था ॥१४॥

नर राज ! हठखीं सूर्य अंगर नभ में एक साथ चमक आएँ ।

तब जाकर कहीं मदारमा की उस आभा की उपमा आएँ ॥१५॥

देवी का देव कहाला जो उस तन में अर्जुन ने देखा ।

नाना रूपों में बँटा हुआ हठखीं अंगर एकत्रित था ॥ १६ ॥

आश्चर्य चकित रोमांचित हो अर्जुन ने सिर को झुका लिया ।

पर जोड़ नमस्ते किया सभी महामदन से वह वचन कहा ॥१७॥

अर्जुन बोला—

अर्जुन बोला हे देव सूर्य तब देह बीच नर सुर सारे ।

कमलासन पर अका देखूँ तुम नाम अग्नि को हो धारे ॥१८॥

अनेकबाहुदस्वकवनेत्रं

पर्यामि त्वां ~~सर्वोत्तमस्वकम्~~ ।

मान्तं न मर्ष्यं न पुनस्तथादि

पर्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप ॥१६॥

किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च

तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम् ।

पर्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं लज्जन्तम्

दीप्तानलार्कं विमलमेवम् ॥ १७ ॥

त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं

त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।

त्वमव्ययः शाश्वतपर्ययोऽसौ

सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे ॥१८॥

अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्यं—

मनन्तबाहुं शशि सूर्यनेत्रम् ।

पर्यामि त्वां दीप्तदुताशकम्

स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम् ॥१९॥

पावापृथिव्योरिदमन्तरं हि

व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः ।

दृष्ट्वाञ्छु तं रूपमुग्रं तवेदं

लोकत्रयं प्रज्जयितं महात्मन् ॥२०॥

हे विश्वरूप ! जग के स्वाधी !

तब रूप अनेकों में देखूँ ।

बहु हाथ पैर मुख नेत्र तेरे

आदी सभ्यान्त नहीं देखूँ ॥ १६ ॥

सिर मुकुट हाथ में चक्र मदा अवि प्रखर तेज को धारे हो
हैं तुझे देखना बहुत कठिन तुम एक असीम अज्ञारे हो ॥

बोहा—मुकुट मदा अक चक्र धर, तेज पुञ्ज की खान ।

हो अलक्ष्य तुम सूर्य सम, हे अनन्त भगवान् ! ॥ १७ ॥

तुम अक्षर हो ज्ञातव्य सखे !

इस जग के एक सारे हो ।

अन्यत्र हो, धर्म सुरक्षक हो,

तुम पुरुष सनातन प्यारे हो ॥ १८ ॥

तब आदि सभ्य अवसान नहीं,

हो बली अमित हाथों वाले ।

रवि चन्द्र नेत्र, मुख आंग तेरा

ओ मरम जगत को कर दाते ॥ १९ ॥

नम पृथ्वी के अन्तर में हो,

व्यापक हो सर्व दिशाओं में ।

सल भीषण अद्भुत रूप तेरा

हों तीनों लोक व्यापकों में ॥ २० ॥

अनो हि त्वां सुरसंवा विशन्ति

केचिद्वीर्यान्तरात्तस्यै शृण्वन्ति ।

स्वस्तीत्युक्त्वा गन्धर्वसिद्धयः

स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः ॥२१॥

स्त्रादिस्था वसवो ये च साधवा

विश्वेऽधिनीमकृतधोष्मपास्तव ।

गन्धर्वपक्षासुरसिद्धसंवा

वीचन्ते त्वां विल्वितारत्नैव सर्वे ॥२२॥

रूपं महत्ते बहुवस्त्रनेत्रं

महाबाहो बहुबाहुलादम् ।

बहुदरं बहुदर्ष्टाकरालं

दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथादम् ॥ २३ ॥

नमःपृष्टं दीप्तमनेकं वर्चं

व्याचाननं दीप्तविशालनेत्रम् ।

दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा

श्रुतिं न विन्दामि शर्मं च विष्णो ॥२४॥

दर्ष्टाकरालानि च ते मुत्तानि

दृष्ट्वैव कालानलतन्त्रिभानि ।

दिशो न खाने न लभे च शर्मं

प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥ २५ ॥

सुर संघ वदेश करे तुम्ह में

कुछ डर, कर बीड़ स्तुती करते ।

सब सिद्ध महा भूपि यश गाते

हो स्वस्ती उच्चारण करते ॥२१॥

आदित्य साध्य वसु रुद्र मरुत्

अरु निरर अग्निनी कुंवर समी ।

ससते विस्मित हो यद्य तुम्हें

गन्धर्व सिद्ध श्री अतुर समी ॥२२॥

बहुनेत्र सुखों का महा रुज

बहुर्जपा पैर उदर बाला ।

बहु हस्त भयंकर दाढ़ युक्त

आलसि दे आलस कर बाला ॥२३॥

अति उच्च श्रेय वर्यों बाले

मुँह खुला चमकते नेत्र बढ़े ।

मैं दुखी हुआ शम, घेर्य गया

लसि तुमको विष्णु पदां लड़े ॥२४॥

कालाग्नि सद्यः लसि मुख तेरे

जो भीषण दाढ़ रखते हैं ।

देवेश अमर ! हो प्रसन्न

दुख या हम मुँहि भटकते हैं ॥२५॥

अमी च त्वां वृत्तराष्ट्रस्य पुत्राः
सर्वे सहैवावनिपालसंघैः ।

मीम्बो द्रोणः दक्षसुरस्यकाली
दक्षान्तदीपैरणि योषमुत्सवैः ॥२६॥

वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति
दंष्ट्राकरालानि मयानकानि ।

केचिद्विस्तृण्णा दशनान्वरेणु
संदश्यन्ते पृथितैरुत्तमांगैः ॥२७॥

पथा नदीनां बहुरोन्मुक्तेषाः
समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति ।

तथा त्वामी नालोत्पदीश
विशन्ति वक्त्राण्यभिविज्वलन्ति ॥२८॥

पथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतञ्जल
विशन्ति नाशाय समुद्रवेणाः ।

तदैव नाशाय विशन्ति लोक
स्तथापि वक्त्राणि समुद्रवेणाः ॥ २९ ॥

हेलिससे असमानः समन्ता
ह्योद्यन्समग्रान्वदनैर्ज्वलद्भिः ।

तेजोमिरापूर्थ जगत्समग्रं
सादस्तपोशाः प्रवृणन्ति विष्णोः ॥३०॥

धुतगाड़ पुत्र अरु सब राजा

यह कर्ण, भीष्म अरु द्रोण बली ।

अरु अपने मित्र नृपों की भी,

लाशें तब मूल में जायें चली ॥ २६ ॥

कुछ दांतों में हैं अटक गईं

कुछ होठों से हैं गईं मली

जाती हैं तब भीष्म मूल में

जोड़ि दाँतों बीच दली ॥ २७ ॥

देहि नदियन का वेग नित,

सागर में ही जाय ।

तैसे ही यह चीर कदा

तब मूल गये समाय ॥ २८ ॥

जैसे खद्योत चले जाते

दीपक पै अपना काल लिये ।

इस भाँति सभी नर मरने को

तब मूलमें भटपट जाई चले ॥ २९ ॥

चहुँ ओर सभी को निमल गये

अरु सभी चाटते जाते हो ।

सारे जग में भर विकट शैव

निज घृति से उसे तपाते हो ॥ ३० ॥

आरुणादि मे को मयास्तुप्रकृतौ

नमोऽस्तु ते देववर वशीद ।

सिद्धास्तुविष्णुर्हि भवन्तमाद्यं

न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम् ॥३१॥

श्रीमद्भक्तान् व्याप—

कातोऽस्मि लोकदुःखसमुद्रतो

लोकान्समावृतुं मिदं प्रवृत्तः ।

शृतेऽपि त्वां न मविष्मन्ति सर्वे

येऽवस्थिताः प्रत्यर्पकेषु योधाः ॥३२॥

तस्मात्प्रवृत्तिदुःखो लभस्व त्रित्वा शत्रून्क्षुब्धकरान्पर्यवृत्तवत् ।

मयैवैते निहताः पूर्वमेव निमित्तमार्जं भव हव्यतादिना ॥३३॥

द्रोणं च भीष्मं च द्रुपदं च

कर्णं तथाभ्यामपि योधवीरान् ।

मया हतास्त्वं जहि मा व्यथिष्यता

शुद्धयस्व जेतासि श्यो सप्तमान् ॥३४॥

संजय कथाय—

एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य

कृताञ्जलिर्षेमानः किरीटी ।

नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णं

उत्तमोऽहं सीताभीष्टः प्रवृत्तः ॥३५॥

तुम कीज वताओ बिकट रूप
 मैं करूँ नमस्ते सुश्रु होजा ।
 पुनि आदि मूल तुम कैसे हा
 दा अपना दंग हूँसे बतला ॥३१॥

श्री भगवान बोले

माधव कैसे हूँ काल सखे ।
 सब लोक नसाने आया हूँ ।
 हो विपुल नष्ट बिना तेरे
 यह तुझे बताने आया हूँ ॥ ३२ ॥

इसलिए लड़ा हो रण वाले रण जीत घनी राजा होजा ।
 यह मैंने पहले भार दिये हे अर्जुन । तू करण बनजा ॥ ३३ ॥

यह द्रोण जयद्रथ कर्ण भीष्म
 अरु अन्य महा योधा सारे ।

हुकसे हैं मरे दुःखी मतहो
 कर दुष्ट विजय निमित्त पा रे ॥३४॥

संजय बोले—

सञ्जय बोला पुनि कृष्ण वचन
 कर जोड़ कर अर्जुन बोला ।

पुनि बारम्बार प्रणाम किया
 करतो र निज मुँह खोला ॥३५॥

अङ्गुलं कञ्चन—

स्थाने हृषीकेशे तव प्रकीर्त्या

जगत्प्रदुष्यत्यनुरज्यते च ।

रक्षांसि मोक्षानि दिक्षो द्रवन्ति

सर्वे नमस्यन्ति च तिस्रस्तथाः ॥३६॥

कस्माच्च ते न नमोऽन्यदात्मन् मरीचसे जगद्धोऽप्यादिरर्क्षे ।

अनन्त देवेश ध्वजविराट् स्वमधुरं सदस्यत्परं यत् ॥३७॥

त्वमादिदेवः पुरुषः दुष्टाणास्तदनस्य विश्वस्य परं निधानम् ।

वेत्तासि देव' च परं च धाम त्वया तर्त विश्वमनन्तरुप ॥३८॥

वायुर्धर्मोऽग्निर्धर्मः शशाङ्कः अजायतिस्त्वं प्रपितामहश्च

नमोनमस्तोऽस्तु सहस्रकृत्वः पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्तैः ॥३९॥

नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्तै

नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व ।

अनन्तरीरितिदिशस्तै

सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः ॥ ४० ॥

सखेति मत्वा प्रथमं बहुक्तं दे कृष्ण दे पादव दे सखेति ।

अज्ञानता महिमानं तवेदं मया प्रमादात्प्रणवेन वारि ॥४१॥

पञ्चावहासार्यमसत्कृतोऽसि विशाखश्चात्मनमोऽस्तेषु ।

एकोऽधवाभ्यव्युत तत्समर्थं तत्त्वामये त्वामहमप्रमेयम् ॥४२॥

अर्जुन बोला—

सब कीर्तन जग में हर्षिकेश !

है उचित हर्ष देना सबको ।

राक्षस चहुँ ओर भगे दर से

सब सिद्ध प्रणाम करें तुम्हको ॥३६॥

हे महापुरुष ! नर क्यों न भुजें तुम ब्रह्मा से भी बड़े प्रभू !

देवेश जगन्नाथ हो अनन्त है भाव अभाव पञ्चदश तू ॥ ३७॥

ब्रह्मा—आदि पुरुष हो आदि सुर, तुम हो जगन्नाथ ।

परं धाम सर्वज्ञ हो, अमित रूप विस्तार ॥ ३८॥

बापु प्रजापति अग्निमय, पददाता हो आप ।

बार बार बंदन करूँ, मिटें सभी सुन्ताप ॥ ३९॥

ज्ञातव्य तुम्हीं हो आदि पुरुष ! हे आदि देव ! जग रक्षक हो ।

हो परम धाम सर्वज्ञ तुम्हीं, हो अमर विश्व में व्यापक हो ॥

आगे पीछे सब ओर करें बन्दन तुम्ह को जग में सारे ।

हो अमित पराक्रम वीर्ययुक्त सर्वस्व तुम्हीं हो जगधारे ॥४०॥

निज मित्र जान कर मैंने जो महिमा ऐसी नहि पहिचानी ।

कह दादा यादव कृष्ण ! सस्ता यह मलती मैंने अबजानी ॥४१॥

जो क्रीडा में उरहास किया अपमान किया सोते खाते ।

मित्रों में थे व अकेले थे सब चमा करो हे जगत् पते ॥४२॥

पिताऽसि लोकस्य चराचरस्य
त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गोपात् ।

॥ त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो
लोकाज्येऽन्तरिक्षादपि ॥४३॥

तस्य स्मारश्चाम्य प्रशिक्षाय कार्यं
प्रसादये त्वदन्त्येनोऽपि हृत् ।

वितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः
प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम् ॥४४॥

अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा मयेन च प्रश्वसितं मनो मे ।
तदेव मे दर्शय देव रूपं प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥४५॥
किरीटिनं गदिनं चक्रहस्तमिच्छासि त्वा द्रष्टुमर्हं तथैव ।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन सहस्रबाहो भव विदधूर्ते ॥४६॥

श्रीभगवान् उवाच—

मया प्रसन्नेन तवास्तु मेदम् रूपं परं दर्शितमात्मयोगात् ।
तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम् ॥४७॥
न वेदयज्ञाभ्ययनैर्न दानैर्
न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः ।

एवंरूपः शक्य अर्हं वृत्तोक्ते
द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर ॥४८॥

तुम लोक पराचर के स्वामी
 हो पूज्य महा गुरु तुम्हीं सदा ।
 प्रपन्नोक्त में तुम सा कोई नहीं
 वैसे हो तुमसे कोई बड़ा ॥ ४३ ॥
 साष्टांग नमस्ते करके म
 हे पूज्य ! प्रसन्न करुं तुम्ह को ।
 निज हस्तको पिता, मत्ता प्रियको,
 सदृश है तुमभी दया करो ॥ ४४ ॥

अदृष्ट रूप लालि इर्ष हुआ पर मन मेरा मयभीत हुआ ।
 हे देव ! दरो फिर रूप वही देवेश जगद्गुरु कभी कृपा ॥ ४५ ॥
 सिर टुकट करो में चक्र मदा वैसा ही रूप दिखाओ तुम ।
 अमरूप ! असंख्य गुणावासे फिरचतुर्भुजी कनकाकोटुर ॥ ४६ ॥

श्री कृष्ण बोले—

बोले श्री कृष्ण दया करके यह परम रूप दिखलाया है ।
 तेजस्वी ग्योनक आदि अमरनहि अन्य कोई लख पाया है ॥ ४७ ॥
 यह वेद यह पढ़ने वाले
 अरु दान क्रिया तप जो करते ।
 यह लोक में कोई सिवा तेरे
 हस्तका दर्शन नहि कर सकते ॥ ४८ ॥

मा मे व्यथा मा च ~~विदुर्दृष्टिः~~

दृष्ट्वा रूपं शोणोदङ्गममेदम् ।

अदेतही प्रोतमनाः पुनस्त्वं

तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य ॥ ४६ ॥

सञ्जय उवाच—

इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथाकृत्वा

स्वकं रूपं दर्शयन्नासु भूयः ।

आरवासयामास च भीतमेनं

भूत्वा पुनः सीम्पवपुर्महात्मा ॥ ४७ ॥

अर्जुन उवाच—

दृष्ट्वेदं मातुषं रूपं तव सीम्पं जनार्दन

इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं यतः ॥ ४८ ॥

श्री भगवान् उवाच—

सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्ट्वाऽऽदि यन्मम ।

देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकाङ्क्षिणः ॥ ४९ ॥

नाहं चेदेनं तपसा न दानेन न वैज्यया ।

शक्य एव विधौ द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा ॥ ५० ॥

भक्त्या त्वदन्यथा शक्य अहमेवविधौऽर्जुन ।

आतुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप ॥ ५१ ॥

दीहा-दीर रूप यह देखकर,
 हो न दुखी तब शोक ।
 हो प्रसन्न, भय त्याग दे
 रूप वही अवलोक ॥ ४६ ॥

शंकर बोले—

यह कह साधव ने अर्जुन को
 फिर वही रूप दितलया है ।
 फिर शान्ति रूप धारण कर के
 भय उसका सभी मिटाया है ॥ ४७ ॥

अर्जुन बोले—

अर्जुन बोला हे कृष्ण ! तेरा यह शान्तरूप लालि सुनीहुआ ।
 अब शान्त हुआ यह मन मेरा मैं पूर्व दशा को प्राप्त हुआ ।

श्रीभगवान बोले—

साधव बोले यह अजय रूप जो मैंने तुझको दितलया ।
 तब देव तपसते हैं इसको पर दर्शन कोई न कर पाया ॥ ४८ ॥
 जो दर्शन तूने अभी किया वह प्राप्त नहीं हो यज्ञों से ।
 तप दान किये से भी न मिले, है दूर तथा वेदर्शा से ॥ ४९ ॥
 यह रूप तथा मम ज्ञान वही निश्चय से वह ही जानेवा ।
 जो केवल मेरा भक्त रहे अरु पूज्य होते ही मानेवा ॥ ५० ॥

मत्कर्मकुन्मत्परमो

कुरुतु मत्कर्मवर्जितः ।

निर्वैरः सर्वभूतेषु

यः स मामेति पाण्डव ॥ ५५ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु मद्भविष्यायां योगशास्त्रे

श्रीकृष्णार्जुनसंवादे विश्वरूप दर्शन योगो

नामैकादशोऽध्यायः ॥११॥



निज कर्म करे मुक्त को, अर्पण मुक्त में हो तत्पर, संग तजे ।
सब भूतों से जो प्रेम करे पाता मुक्तको जो मुझे भजे ॥

बोद्ध-अर्पण अपने कर्म कर, रहे नहीं आसक्त ।

प्रेमी तत्पर मुभी में, पाय मुझे मम भक्त । ५५ ॥

विश्वरूप दर्शन योग नाम का ग्यारहवां अध्याय समाप्त ॥



अथ द्वादशोऽध्यायः ।

(मच्छिष्येण)

१४

अर्जुन उवाच—

एवं हतशुक्ला ये भक्तास्त्वां पशुपासते
ये चाप्यक्षमन्यक्तं तेषां कै रीयदिविस्तः ॥ १ ॥

श्रीभगवान् उवाच—

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्यशुक्ला उपासते ।
श्रद्धया वरयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ॥२॥

ये त्वक्षरनिर्देश्यमव्यक्तं पशुपासते ।
सर्वत्रगमचिन्तं च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ॥३॥

संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः ।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥४॥

क्लेशोऽधिकतरस्तेषां श्रद्धाव्यक्तास्तथा ॥
अन्यक्ता हि मतिर्दुःखं देहवद्विस्वाप्यते ॥५॥

ये तु सर्वाणि कर्माणि भवि संन्यस्य मत्पराः ।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥६॥

अथ द्वादशोऽध्यायः ।

(अष्टाध्यायः)

१२

अशुन उवाच—

एवं सप्ततयुक्ता ये भक्तास्त्वीं पशुपासते
ये चाप्यक्षयव्यक्तं तेषां ते योगविचाराः ॥ १ ॥

श्रीभगवान् उवाच—

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते ।
अहं या परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ॥२॥

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पशुपासते ।
सर्वत्रगमचिन्तयन् च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ॥३॥

संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः ।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥४॥

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।
अव्यक्ता हि मतिर्दुःखं देहवद्विरवाप्सते ॥५॥

ये तु सर्वाणि कर्माणि भवि संन्यस्य मत्पराः ।
अनन्देनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥६॥

अध्याय ।

(भक्ति योग)

अर्जुन का प्रश्न—

अर्जुन बोला श्रीकृष्ण ! कहे दोनों में किस को श्रेष्ठ कहे ।
इस और निरन्तर भक्त तेरे, पुनि वे जो प्रभु में लीन रहे ॥१॥

श्रीकृष्ण का उत्तर—

श्रीकृष्ण कहे जो भक्ता से बस मुझे रन्दना करते हैं ।
मैं श्रेष्ठ उन्हें मानूँ अर्जुन ! जो ध्यान मुझ में धरते हैं ॥२॥
वह ईश्वर 'अक्षर' 'अगम' 'अचल' व्यापक सर्वत्र कहादा है ।
अव्यक्त, अमर, दुर्गोच सदा वर्त्तन में कभी न आता है ॥३॥
जो पुरुष इन्द्रियां बस में कर समता से उसको ही ध्याये ।
भूतों का हित करने वाले वह भाता मुझ को ही पावे ॥४॥
अदृश्य ईश की पूजा में पर ध्यान लगाना कठिन भदा ।
दुख जो अव्यक्त गती में हो तनधारी से नहि जाय सदा ॥५॥
सब कर्म मुझे अर्पण करके मुझ में जो चित्त लगाता है ।
अविभक्त योग के द्वारा ओ केवल मुझको ही ध्याता है ॥६॥

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्यु संसार सामराद् ।

मयामि न विदुस्तर्कं कथ्यतेहि तथैतदाह ॥७॥

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धि निवेशय ।

विदत्सि मय्येव शतं कर्षं न संशयः ॥८॥

अथ चित्तं समाधातुं शक्नोषि मयि स्थिरम् ।

अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनञ्जय ॥ ९ ॥

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि शतकर्मफलं भव ।

मदर्दमयि कर्माणि कुर्वन्ति तद्धिमवाप्स्यसि ॥ १० ॥

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं लघोऽप्यश्रितः ।

सर्वकर्मफलत्वाय ततः कुरु वैतात्मवान् ॥ ११ ॥

अथैव हि ज्ञानमभ्यासः—

अज्ञानाद्भयानं विदिष्यते ।

भ्यानात्कर्मफलत्वाय—

स्वप्नाया ज्ञान्तिमनन्तरम् ॥१२॥

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च ।

निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी ॥ १३ ॥

सन्तुष्टः सततं याधी यतात्मा दृढनिश्चयः ।

मत्परित मनोबुद्धिर्षो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥१४॥

यस्माज्जिज्ञाते लोको लोडाज्जिज्ञाते च यः ।

इषामिषमपोद्देगीर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ॥ १५ ॥

इस मुख्य लोभ के सागर से मैं आपको पार लगाता हूँ ।
 जो मुझ में निश्चय पगबग है मैं उनका ही हो जाता हूँ ॥७॥
 मुझ में तो पित्त लगा अर्जुन ! रक्त बुद्धि सदा मुझ में ही तू ।
 यह जन्म तेरा जब बीतेगा पावेगा फिर मुझ को ही तू ॥८॥
 अहर्ष्य अनश्वर यदि होवे मन को मुझ में शराने में ।
 अभ्यास योग के द्वारा फिर हो सफल तुझे तू जाने में ॥९॥
 अभ्यास न मुझ से यदि होवे निज कर्म मुझे अर्पण कर दे ।
 निश्चय सिद्धी को पावेगा यदि मेरे कारख कर्म करे ॥ १०॥
 यदि यह भी काम नहीं होता मम योग सहारा ले करके ।
 कर्मों के फल का त्याग कर्मों मनको अपने वश में करके ॥११॥
 अभ्यास मार्ग से ज्ञान भला और ध्यान ज्ञान से है अच्छा ।
 बुद्धि उत्तम फल का त्याग भला जो तुल्य शान्ति का है दाता ॥

दोहा—ज्ञान भला अभ्यास से, ध्यान ज्ञान से श्रेष्ठ ।

उत्तम फल का त्याग है, जाने सोच श्रेष्ठ ॥१२॥

मानव से द्वेष नहीं रखता सब का जो मित्र दयावाला ।
 समता अविमान नहीं जिसमें हृदय हृदय शान्ति समावाला ॥१३॥
 सन्तुष्ट सदा योगी जो है मन को जिसने सहारा है ।
 यह निश्चय मुझ से मन जिसका वह भक्त हमारा प्यारा है ॥१४॥
 नर में शत्रु न जिससे हो, जिसमें उद्धेय न लोगों से ।
 स्वारा कम भक्त अलग रहता मम ईर्ष्या के रोषों से ॥१५॥

कमपेक्षः शुचिर्दयः तपस्वी मनुष्यधः ।
 सर्वान्मम हरिण्यही यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥ १६ ॥
 यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति ।
 शुभाशुभनिमित्तादी मक्तिमान्मन्यः स मे प्रियः ॥ १७ ॥
 समः क्षुधी च मित्रे च तथा मान्वाद्यन्तर्यैः ।
 शीतोष्णदुःखदुःखेषु समः सर्वदिर्द्विष्टः ॥ १८ ॥
 तुल्यनिन्दास्तुतिभौर्वी सन्तुष्टो वेन केनचित् ।
 धनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तियान्मे प्रियो नरः ॥ १९ ॥
 ये तु धन्यमृतामिदं परोक्षं स्युर्पासते ।
 अर्चयन्ता मत्परमा मक्तास्त्येवमेव मे प्रियाः ॥ २० ॥

इति श्रीमद्भागवद्गीतासूपनिषत्सु मद्यविद्यार्थ योगशास्त्रे
 श्रीकृष्णार्जुन संवादे भक्तियोगो नाम द्वादशोऽध्यायः ॥



जो इच्छा रहित उदासी हो अरु पावन, दक्ष, दुखी मन में ।
 प्यारा है मेरा भक्त वही संकल्प तजे अपने मन में ॥१६॥
 जो हर्ष द्वेष से रहे परे आशा अरु शोक न करता है ।
 नित भले घुरे का त्याग करे वह मुझको प्यारा लगता है ॥१७॥
 जो शत्रु, मित्र को सम देखे अपमान, मान में शांत रहे ।
 कर्मी, सखी, सुख दुख में सम विषयासक्ती को नहीं गहे ॥१८॥
 निन्दा स्तुति को सम देखे जो सन्तोषी हो अरु मीन रहे ।
 हो स्थान रहित, स्थिर मतिवाला, वह भक्त इक्ष्वाकुदेव गहे ॥१९॥
 दोहा—श्रद्धापूर्वक जो सुने, यही धर्म उपदेश ।
 ऐसे अपने भक्त से मेरा प्रेम विशेष ॥ २० ॥

भक्ति योग नाम का बारहवां अध्याय समाप्त ॥



अथ त्रयोदशोऽध्यायः

(क्षेत्रक्षेत्रज्ञ विभाग योग)

शुक्र उवाच—

प्रकृतिं पुरुषं चैव

क्षेत्रं क्षेत्रज्ञमेव च ।

एतद्वेदितुमिच्छामि

ज्ञानं क्षेत्रं च केशव ॥ १ ॥

श्री भगवान् उवाच—

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रज्ञित्वमिषीयते ।

एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ॥ १ ॥

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत ।

क्षेत्रक्षेत्रज्ञगोष्ठानि यत्तज्ज्ञानं मतं मम ॥ २ ॥

तत्क्षेत्रं यच्च यादृक् च यद्रिक्कारि यत्प्रयत् ।

स च यो यत्प्रमादयत् तत्प्रमासेन मे शृणु ॥ ३ ॥

अविर्भवद्बुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक् ।

ब्रह्मसूत्रपदैर्भैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः ॥ ४ ॥

तेरहवां अध्याय

(क्षेत्र क्षेत्रज्ञ विभाव योग)

अर्जुन ने पूछा—

दोहा—अर्जुन बोला, “कृष्ण ! कह प्रकृति पुरुष का ज्ञान ।
बता ‘क्षेत्र’ ‘क्षेत्रज्ञ’ को, कहां ‘ज्ञेय’ अरु ज्ञान” ॥
अर्जुन बोला हे कृष्ण ! बता, प्रकृति अरु ‘पुरुष’ किसे कहते ।
क्षेत्रज्ञ, क्षेत्र का ज्ञान बता अरु ज्ञान ज्ञेय में भेद सखे ! १ मा।

श्रीकृष्ण ने उत्तर दिया—

तोते माधव हे कौन्तेय ! यह नर तन क्षेत्र कहाता है ।
इसको जो जाने “क्षेत्रज्ञ” तत्त्वज्ञानी कहलाता है ॥१॥
सब क्षेत्रों में क्षेत्रज्ञ हूँ तुम निश्चय से भागत जानो ।
क्षेत्रज्ञ क्षेत्र का ज्ञान, ज्ञान, मेरा मत है इसको मानो ॥२॥
क्या है ? कैसा है ? कहाँ से है ? वह कैसे विकृति को पावे ।
क्षेत्रज्ञ कौन है बतलाऊँ अरु क्या प्रभाव वह दिसलावे ॥३॥
नव भिन्न २ छन्दों द्वारा महिमा ऋषियों ने गाई है ।
अरु ब्रह्मसूत्र के वाक्यों ने तद युक्ति सहित समझाई है ॥४॥

अन्विष्टायाश्चक्षुषे बुद्धिस्त्यक्तमेव च ।

इन्द्रियाणि दरीकं च पञ्च येन्द्रियमोचराः ॥३॥

इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातभेदना धृतिः ।

एतत्पञ्च सुभासेन हविर्नामहृदयम् ॥ ४ ॥

आमामित्यमर्दितिरहङ्गितः क्षामित्वाज्यम् ।

आमदार्पणार्थं शीघ्रं स्वैर्वैकात्म्यविनिष्ठः ॥५॥

इन्द्रियार्थेषु वैशम्यमनहङ्कार एव च ।

तन्महत्सुखवाङ्मनसि तु भवति सद्बुद्धिर्गन्तु ॥६॥

असक्तिरनभिष्वङ्गः पुण्यदम्भश्चदिषु ।

मित्यं च समचित्तस्वामिष्ठानिष्ठोपपत्तिषु ॥७॥

अपि चानन्ययोगेन भक्तिरन्यभिचारिणी ।

विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥८॥

अभ्यासप्रदानमित्यत्वं हृत्प्रदान्तर्बुद्धिर्गन्तु ।

एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं हृत्प्रदोऽन्यथा ॥९॥

ज्ञेयं पञ्चदशममणि

पञ्चात्माशुभपरबुद्धे ।

अनादिमत्परं जगत्

न सचक्षासद्बुध्यते ॥१०॥

सर्वतः पाणिपादं सर्वतोऽक्षिणिरोमुखम् ।

सर्वतः श्रुतिमन्त्रोक्ते सर्वमाहुस्य तिष्ठति ॥११॥

मन एक, अहंता, ईश भूत, ये दसों इन्द्रियां बाँध विद्वत् ।
 अव्यक्त, मूल, साया, बुद्धि यह रूप योग का है निरवयव ॥१॥
 सुख ह्रीं के चेतना इच्छा दुःख संज्ञान और धृति की जाओ ।
 ये सभी योग के हैं विचार निश्चय करके इसको मानो ॥२॥
 हो समा अहिंसा सादासन अरु ज्ञान कपट से दूर रहो ।
 दुःखदोष, स्थिरता, संयमदो, मनशुद्ध बना, कुछ वलेश न हो ॥३॥
 विषयन के प्रति वैराग्य रहे मन अहंकार मन में ला रे ।
 दुःख, योग, बुद्धि, जन्म, मरण अरु दोष न भूल कभी प्यारे ।
 सुख, परमा और गुरुस्थी में अनुचित सबका अरु मोह न हो ।
 समचित्त सदा रहना सीलो त्रिष अत्रिष में कुछ भेद न हो ॥४॥
 मत भटको इधर उधर केवल मेरे ही भक्त बने रहना ।
 एकान्त विद्या सदा करना जगत्सु आसक्त नहीं रहना ॥५॥

दोहा—तत्त्व ज्ञान का अर्थ सखि, धार हुआ तत्त्वज्ञान ॥

यह तो साया 'ज्ञान' है, हो विरुद्ध 'अज्ञान' ॥१॥

ज्ञान सुना, अब देव सुन, अमृत की तू पाव ।

है अनादि सदसत नहीं, परम ब्रह्म कहलाय ॥

अब 'ज्ञेय' सुनो अर्जुन! जिससे नर सदा अमर हो जाता है ।

सब कहें न उसको असत्य कहें परब्रह्म अनादि कहाया है ॥२॥

है व्यापक सभी जगत् ईश्वर उसके कर देर सभी स्थल में ।

सिंह आँलें उसके सभी ओर, गुरुकाय सदा नम, बलवत्त में ॥३॥

सर्वेन्द्रियगुणामासं सर्वेन्द्रियविचरितम् ।
 अतस्तु सर्वभूतैश्च निरुक्तं तद्विज्ञेयं च ॥१४॥
 परिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च ।
 सूक्ष्मत्वाच्चद्विज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च ॥१५॥
 कश्चिन्नक्तं च मतेषु विनश्यदिव च स्थितम् ।
 भूतमवृत्तं च तज्ज्येयं प्रसिद्धं प्रसिद्धं च ॥१६॥
 ज्योतिरावपि तज्ज्योतिर्विस्तृतः परमुच्यते ।
 ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानरज्यं इति सर्वस्य विहितम् ॥१७॥

इति चेत्रं तथा ज्ञानं

ज्ञेयं चोक्तं तन्मसतः ।

मन्त्रकः परादिप्राय

मन्त्रावाप्तोत्पद्यते ॥१८॥

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्वयनादी उभावपि ।
 विकाराश्च शुष्मांश्चैव विद्धि प्रकृतिं सम्भवान् ॥१९॥
 कार्यकारणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते ।
 पुरुषः दृष्टदुःस्थानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ॥ २० ॥
 पुरुषः प्रकृतिरथो हि सृज्यते प्रकृतिवान्पुणान्
 कारणं शुक्लसंयोगस्य सदसद्योनि जन्मसु ॥२१॥
 त्वरद्वन्द्वोऽतुल्यन्दा च भर्ता भोक्ता महेस्वरः ।
 परमात्मेति चाप्युक्तो देहेस्मिन्पुरुषः परः ॥२२॥

इंद्रियां न उतकी हैं लेकिन उन सब के गुण को रखता है ।
 निर्लेप तथा निर्गुण होकर सब भोग गुणोंके करता है ॥१४॥
 भूतों के बाहर भीतर है, यथिमान सदा श्री शिवर भी है ।
 है सृजन नहीं जाना जाता, है दूर, निकट वह फिर भी है ॥१५॥
 अविषयता पूर्ण है भूतों में पर बड़ा हुआ सा लगता है ।
 सब ज्ञेय इसी को तुम जानो वह पालक, भासक, कर्ता है ॥१६॥
 सब ज्योतिन की वह ज्वाला है अरु अन्धकारमे परे सदा ।
 है “ज्ञान” वही है “ज्ञेय” वही मन में वह सबके रहे सदा ॥१७॥
 संचिन्त रूप से जब मैंने वह ज्ञेय, ज्ञान अरु ज्ञेय कहा ।
 जिसने है इसका मन्त्र किया वह मन्त्रधुमी में भान रहा ।
 दोहा—ज्ञेय, ज्ञान अरु ज्ञेय का, सद्यश्च द्रिष्टवदाय ।

मन्त्र इसे जो जानता, वह मन्त्र को हां पाय ॥१८॥
 वह कृपति और पुरुष दोनों ही नित्य अनादि कहते हैं ।
 गुण दोष प्रकृति से ही होते वह ज्ञानी जन वदलाते हैं ॥१९॥
 केवल इस प्रकृति के द्वारा सब कार्य व कारण होते हैं ।
 गुण गुण अरु भोगों के भोगी नित्य सभी पुरुष मय होते हैं ॥२०॥
 जो प्रकृति के वश रहता, है गुण दोष उगी के पाता है ।
 अतुच्छ इन्हीं गुण दोषों के भर विविध योनि में जाता है ॥२१॥
 जो परम पुरुष इस जन में है सब कुछ देखे अतुच्छविदाय ।
 भोक्ता, मर्तार, मदेधर है परमात्मा भी वह कहलाया ॥ २२

य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह ।
 सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽविद्यायते ॥२३॥
 ज्ञानेनास्तानि परस्मिन् ऐरिदमन्तःकृतानि ॥
 अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे ॥२४॥
 अन्ये त्वेषमज्ञानन्तः अस्थान्देह्य उपासते ।
 तेऽपि चातिहरन्त्येव मृत्युं भुवि रता यथाः ॥२५॥
 यावत्संज्ञायते किञ्चिदस्य स्यादवज्ज्ञमम् ।
 स्रेयस्रेयसं संयोगाच्च द्विद्धि भरतर्षभ ॥२६॥
 समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेष्ठिनम् ।
 शिरस्यारूढमिदं तन्मयं यः पश्यति स पश्यति ॥२७॥
 समं पश्यन्ति सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम् ।
 न हि नास्त्वात्मनात्मानं ततो याति पशं मतिम् ॥२८॥

प्रकृत्यैव च कर्माणि
 क्रियमाणानि सर्वशः ।

य पश्यति तदात्मान-
 मकर्तारं स पश्यति ॥ २९ ॥

यदा भूतपुरुषावयौकम्बुनुरस्यति ।
 तत एव च निस्तारं ब्रह्म संपद्यते तदा ॥३०॥
 ज्ञानादित्यातिर्दुःखत्वात्तस्मात्स्वायम्बुवयः ।
 क्षीरस्थोऽपि कीन्तोऽपि न करोति न लिप्यते ॥३१॥

जो मुख्य प्रकृति के इस प्रकार गुण सहित ज्ञान को प्राप्त करे ।
 वह चाहे जिसने कर्म करे पर जन्म दूसरा नहीं घरे ॥ २३ ॥
 कुछ ध्यान लगा कर आत्मा से आत्मा को अपने में देखे ।
 कुछ ज्ञान मार्ग से लखे इसे कुछ कर्म योग से नापेले ॥ २४ ॥
 जो नर यह मार्ग नहीं जाने पर जीवों से तुल्य होते हैं ।
 महिमा प्रभु की तुल्य भक्ति करे वह मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं ॥ २५ ॥
 हे भास्त ! जग में जो कुछ भी रहिगीत न स्थिर दिखलाई दे ।
 चैत्रज, चैत्र का मेला कबो कारण बस यही दिखाई दे ॥ २६ ॥
 इन नश्वर भूतों में जो नर उस अविनाशी को जानेगा ।
 रखे सम भाव सभी में जो सब वही कहे रहिगीत ॥ २७ ॥
 समता से प्रभुको सभी जगह जो चिन्तामान प्राणी देखे ।
 वह परम धाम को पाता है अरु कभी न अपना इमन करे ॥ २८ ॥
 सब कर्म प्रकृति ही करती है ऐसा है जिसने ज्ञान लिया ।
 अपने को कर्ता नहीं कहे सद्ब्रह्म उसी ने प्राप्त किया ॥
 दोहा—कर्म प्रकृति ही सब करे, कर्ता उस को मान ।

कर्ता निज को मत समझ, पावेगा सद्ब्रह्म ॥ २९ ॥

जो नर जीवों को अलग अलग होने पर भी एक में देखे ।
 हे प्रया से उत्पन्न जगत् वह ज्ञान मोक्ष को प्राप्त करे ॥ ३० ॥
 अव्यय, अविनाशी, परमेश्वर है निर्गुण “आदि” नहीं रखता ।
 वह स्वयं न कुछ भी करता है निर्लेप सदा तन में रहत ॥ ३१ ॥

यथा सर्वगतं सौम्यमक्षयं योगक्षिप्रम् ।
तन्मन्त्रमिदं देहे तथास्या योगक्षिप्रम् ॥ ३२ ॥

यथा प्रकाशस्तरेणः कुत्सनं दीपशिखं रविः ।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कुत्सनं प्रकाशयति भारत ॥ ३३ ॥

देवदेवस्योक्तम्-

मन्तरं ज्ञानचक्रम्
भूतल्लुप्तियोगं च
ये विदुषन्ति ते परम् ॥३४॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु अष्टाविंश्यां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे योगदेवकृष्णसंवादे
ज्ञान प्रबोधोऽध्यायः ॥ १३ ॥



जैसे अति सूक्ष्म गगन व्यापक होने पर भी निर्लेप रहे ।
 वैसे ही तन में रहने पर यह आत्मा लिप्त नहीं होवे ॥३२॥
 जैसे यह सूर्य अकेला ही करता है जग में ललिताला ।
 वैसे ही तन से ब्रह्मा ने सब दूर अन्धेरा कर डाला ॥३३॥
 क्षेत्रज्ञ क्षेत्र में अन्तर क्या बन्धन से कैसे नर छूटें ।
 जो ज्ञान चक्षु से यह देखे आनन्द मोक्ष का वे लूटें ॥

अन्तर क्षेत्री क्षेत्र का, बन्धन मोक्ष उपाय ।

ज्ञान नेत्र से जो लखे, परम ब्रह्म को पाय ॥३४॥

क्षेत्र क्षेत्रज्ञ विभाग योग नाम का तेरहवां अध्याय समाप्त ॥



अथ चतुर्दशोऽध्यायः ।

(गुणत्रयविभाग योग)

श्रीभगवान् उवाच—

परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानवृक्षगम् ।
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो यताः ॥१॥
इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यसाधनः ।
सर्वेऽपि लोकायान्ते प्रसवे न व्यथन्ति च ॥२॥
मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्मर्मे दधाम्यहम् ।
सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥३॥
सर्वयोनिषु कौन्तेय ! मूर्तयः सम्भवन्ति याः ।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥४॥
सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः ।
निष्पन्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ॥५॥
तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात् प्रकाशकमनामयम् ।
सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ ॥६॥

चौदहवां अध्याय

(दुष्टनाशितक बोध)

श्री भगवान् बोले

श्रीकृष्ण कहे, अर्जुन तुझ को अब उत्तम ज्ञान बताता हूँ ।
जिससे दुनियाँ की सिद्धि हुई, वह भस्मी भाँति टकराया हूँ ॥१॥
पुनि उसी ज्ञान के आश्रय से मुझ में वह सभी समाते हैं ।
इत जग में जन्म नहीं लेते, नहीं व्यथा प्रलय में पाते हैं ॥२॥
यह प्रकृति मेरी योनि है मैं गर्भाधान करूँ इसमें ।
बस इस प्रकार सब भूतों को अर्जुन उत्पन्नकरूँ जग में ॥३॥
हे कुन्ति पुत्र ! सब योनिन में जिन भूतों की उत्पत्ति है ।
मैं बीज डालता हूँ उन में वह योनी मेरी, प्रकृति है ॥४॥
गुण तीन सत्व, रज, तम सारे उत्पन्न प्रकृति से होते हैं ।
अविनाशी जीव बंधे इन से, ये बीज जन्म का बोध हैं ॥५॥
यह सत्त्व सदा निर्मल होता करता प्रकाश सब रोग हरे ।
सुख ज्ञान के बन्धन में पड़ता धारण इसको जो जीव करे ॥६॥

रजो गगनात्मकं विद्धि हस्तमन्त्रवत् ।
 हस्तमन्त्रादि कीन्तेय कर्मरुद्धेन देदिनम् ॥७॥
 रजस्तमस्योत्पत्तिं विद्धि मोहनं सर्वदेदिनाम् ।
 रजस्तमस्योत्पत्तिरिष्टादिरष्टादिरष्टादि भारत ॥८॥
 सत्त्वं सुखे सञ्जयति रजः कर्मणि भारत ।
 ज्ञानयत्तुल्यं तु तमः प्रमादे सञ्जयत्युत ॥९॥

रजस्तमस्योत्पत्तिः,

सत्त्वं भवति भारत ।

रजः सत्त्वं तमश्चैव,

तमः सत्त्वं रजस्तथा ॥१०॥

सर्वदारेषु देहोऽस्मिन्प्रकाश उपजायते ।
 ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विष्टम् उत्पन्नित्युत ॥११॥
 लोमः प्रवृत्तिभारम्भः कर्मणामसदः स्पृहा ।
 रजस्येतानि जायन्ते विष्टुर्दे भरतर्षभ ॥१२॥
 कण्ठकसीधरहृत्पित्त प्रमादो मोह एव च ।
 तमस्येतानि जायन्ते विष्टुर्दे कुरुनन्दन ॥१३॥
 यदा सत्त्वे प्रवृष्टे तु प्रलयं याति देहभृत् ।
 तदोत्तमविदां लोकानमस्तान्प्रतिपद्यते ॥१४॥
 रजसि प्रलयं यत्वा कर्मसङ्घिषु जायते ।
 तथा प्रलीनस्त्वयति मृत्योनिषु जायते ॥१५॥

है "रज गुण"रागनरा अर्जुन ! आतन्त्रित व दृष्ट्या लाता है ।
 इसको अपनावे जो प्राणी कर्मों का बन्धन पाता है ॥ ७ ॥
 अरण्य अज्ञान तमो गुण का सब जीवों को मोहित कर दे ।
 बन्धन में भूल व सुस्ती के इस गुण वाला नर जाय पड़े ॥ ८ ॥
 गुण सत्त्व सुखों का दाता है रज कर्मों का बंधन लावे ।
 श्री ज्ञान नष्ट हो तबगुण से नर सुस्त प्रमादो हो जावे ॥ ९ ॥
 दोहा—रज तम दबते हैं अभी, सत्त्व गुण ऊपर आव ।

इन में से जब दो दबें, तोआ शीघ्र उठाव ।
 जब रज अरु तम दब जाते हैं तब सत्त्वसदा ऊपर आता ।
 हो रज ऊपर तम सत्त्व दबे रज सत्त्व बिरे तम बढ़ जाता ॥ १० ॥
 इस तन में इन्द्रिय के द्वारा जब ज्ञान प्रकट हो जाता है ।
 अरु तब वह पूर्ण प्रकथित हो गुण सत्त्व तभी बढ़ जाता है ॥ ११ ॥
 रज गुण जब तन में बढ़ जाते नर लोभ चेष्टा कर्म करे ।
 हो नित्य अशान्त सदा अर्जुन ! अरु इच्छाओं से सदा बिरे ॥ १२ ॥
 तम गुण के तन में बढ़ने पर अज्ञान मन्दता भूल पड़े ।
 वह साधधान बहि रहता है अरु नित्य मोह में पड़ा पड़े ॥ १३ ॥
 गुण सत्त्व बढ़ा होने पर जब तन घारी अपने प्राण लजे ।
 वह निर्मल लोह उसे मिलते उत्तम ज्ञानी जो स्थान भजे ॥ १४ ॥
 रज गुण में पुरुष बरे कोई वह कर्म योनि में जाता है ।
 पुनि तम गुण में जो बसा है वह मूढ़ योनि को पाता है ॥ १५ ॥

कर्मणः सुदुष्पस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम् ।

रजस्तप्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम् ॥ १६ ॥

सत्त्वास्तंजायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च ।

तमोऽरोचैः तमसो मत्तोऽहान्तेव च ॥ १७ ॥

उर्ध्वं गच्छन्ति तत्परा मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः ।

अधो गच्छन्ति तमसाः ॥ १८ ॥

नान्यं मुखेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति ।

मुखेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति ॥ १९ ॥

मुखानिष्ठानतीत्य जीन्देही देहसमुद्भवान् ।

जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ॥ २० ॥

अनुबोधाच्च—

कैलिंगैस्त्रीन्मुखानिष्ठानतीतो भवति प्रमो ।

किमाचारः कर्णं चैतांस्त्रीन्मुखानतिवर्तते ॥ २१ ॥

श्रीभगवान् व्याच—

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोक्षमेव च पश्यतव ।

न द्रष्टि सम्प्रवृत्तानि न निवृत्तानि कांक्षति ॥ २२ ॥

तदासीन्वद्वृत्तीन् मुखैर्धौ न विचान्पते ।

शुभा वर्तन्त इत्येव बोध्यतिष्ठति नेहते ॥ २३ ॥

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टरमकाञ्चनः ।

तुल्यविषाप्रियो धीरस्तुन्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ॥ २४ ॥

अच्छे कर्मों का फल अर्जुन निर्मल अरु सात्विक ही होता ।
 दुःख मिले राजकी कर्मों से सब ज्ञान-रजोगुण से खोता ॥१६॥
 शुभ ज्ञान सत्य से पैदा हो अरु श्रेष्ठ रजोगुण से जानो ।
 हो मोह प्रमाद रजोगुण से अज्ञान तुमों से हो माने ॥ १७॥
 ऊपर जाते हैं सात्विक नर अरु मध्य राजकी नर ठहरें ।
 दुनि नीच रजोगुणवादी नर नीचे ही नीचे जाय विरें ॥१८॥
 गुण ही सब कर्म करें जब वे सच्चा ज्ञानी वेत्ता मानें ।
 वह नर शुद्ध हो पाता है अरु जगदीश्वर को पहचाने ॥१९॥
 देहा-देह जन्म यह तीन गुण, जो नर कर ले पार ।

जन्म माय दुःख दूर हो, गहे मोक्ष का द्वार ॥२०॥

अर्जुन ने प्रसन्न किया—

अर्जुन बोला हे प्रभू ! वही ऐसे नर का सङ्ग क्या है ?
 कैसे तीनों गुण नर करे उसका आचार कहे क्या है ? २१

श्रीकृष्णजी का उत्तर—

बोले माधव सुनलो अर्जुन ! जो मोह प्रकाश व देश की ।
 पाने पर सुखो नहीं होता इच्छा न करे यदि प्राप्त न हो ॥२२॥
 जो सदा उदासी रहता है स्थिर रहे सुखों का असर न हो ।
 जो गुण कोइ कर्ता जाने अहंभ्रममें कैअर न हो ॥२३॥
 जो स्वरूप रहे, सुख दुःख में सम, मिट्टी सोने की सम जाने ।
 विश्वप्रिय की सम विने सदा, भिन्ना स्तुति की जो एक माने ॥२४॥

साधनसमूहोऽप्युपलब्धो विवक्षितो ।

दर्शनमवस्थितं गुणातीतः स उच्यते ॥२५॥

मां च सौख्यविकारेण भक्तियोगेन सेवते ।

स गुणान्समसीदन् ब्रह्मभूषण कल्पते ॥२६॥

ब्रह्मणो हि त्रिष्टय—

ममृतस्यान्वयस्य च ।

शाश्वतस्य च धर्मस्य

सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥२७॥

इति श्रीमद्भगवद्गीताहृदयनिष्ठं ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रं

श्रीकृष्णार्जुनसम्वादे गुणत्रय विभाग योगो नाम

चतुर्दशोऽध्यायः ॥१४॥



अरि भिन्न में भेद नहीं देखे अपमान मान से अविचल हो
 सब चेष्टाओं का त्याग करे तुम गुह्यहीन वस उसे कहो ॥२५॥
 जो एक मुष्ठी को भजता है अरु नहीं अन्य का ज्ञाप करे ।
 वह पार करे तीनों गुण को फिर ब्रह्म रूप को आप धरे ॥२६॥
 मैं आश्रय हूँ उस ब्रह्मा का जो अजर अमर कहलाता है ।
 मैं धर्म सनातन का आश्रय, मुक्त से नर सुख को पाता है ।
 दोहा—अव्यय अमृत ब्रह्म का, हूँ मैं ही आधार ।
 धर्म सनातन को धरूँ, सुख का हूँ मैं सार ॥ २७॥

गुणत्रय विभाग योग मान का चौदहवां

अध्याय समाप्त ॥



अथ पंचदशोऽध्यायः

(पुरुषोत्तम योग)

श्री भगवान् उवाच—

ऊर्ध्वमूलमधः शाखावस्त्वस्यं प्रादुरन्ययम् ।

छन्दोति यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ॥१॥

अधोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा गुणवद्व्या रिवनवन्महाः ।

अधरवमूलान्यनुवन्तानि कर्मानुवन्तोनि मनुष्वलोके ॥२॥

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते

नान्यो न चादिर्न च सम्प्रतिष्ठा ।

अस्वस्थमेनं सुविरुद्धमूल—

मर्त्यशस्त्रेण हृदेन ह्रित्वा ॥ ३ ॥

ततः पदं तद्वर्णिमार्तिहृत्

यस्मिन्नात्मा न निवर्तन्ति भूयः ।

अथैव चायं पुरुषं प्रपद्यं

यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी ॥४॥

पन्द्रहवाँ अध्याय

(दुर्लभयोग)

श्रीकृष्ण बोले—

ओ कृष्ण कहैं जग बृक्ष तुल्य जड़ ऊपर नीचे शाखायें ।
पत्तें हैं वेद लागे इसमें वन ज्ञानी इसे सबक पायें ॥ १ ॥
शाखा चहुं ओर बढ़ी गुण से विषयों की जिसमें कोंपल हैं ।
कर्मों के बन्धन जड़ें सभी नर लोक मांदि फैलीं सब हैं ॥ २ ॥

दुर्लभ है इसका उचित रूप,
कुछ आदि अन्त स्थिति दिखे नहीं ।
महरी है खूब जड़ें इसकी,
यह अनासक्ति चिन बटें नहीं ॥ ३ ॥

नर काट जड़ें उसको खोजे,
जिसको पाकर फिर जन्म न ले ।
जिसने माया को फैलाया,
उसकी ही केवल शरण पड़े ॥ ४ ॥

विश्वं न योऽहं विदुः स कुर्वते स

आभ्यात्म नित्या विविदुः स च ज्ञातः ।

इन्द्रो विमुक्ताः सुखदुःखसमञ्जै

र्वाञ्छन्त्यमृताः पद्ममयं सन् ॥ ५ ॥

न तद्वाचस्पदे चर्यो न शशाङ्को न शायकः ।

यदुक्त्वा न निर्वर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥ ६ ॥

ममैवांशो जीवल्लोके जीवभूतः सनातनः ।

मनः सहातीन्द्रियाणि शक्तित्वादि कर्षति ॥ ७ ॥

शरीरं यदवाप्नोति यथाशुक्लामतीश्वरः ।

गृहीत्वैतानि संवाति वायुर्यन्वानिवाश्वरात् ॥ ८ ॥

श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च स्मृतं घ्राणमेव च ।

अधिष्ठाय मनश्चार्यं विदयात्पुण्येवते ॥ ९ ॥

उत्क्रामन्तं स्थितिं वापि

भुञ्जानं वा शुद्धाचिरम् ।

विमुदा

वातुपरयन्ति

परयन्ति ज्ञानचक्षुषः ॥ १० ॥

यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्तिष्ठत् ।

यतन्तोऽप्यकृतात्मानो यैनं पश्यन्त्यचेतसः ॥ ११ ॥

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽस्तिष्ठत् ।

यच्चन्द्रमसि यचाग्नी तपोजो विद्धि मामकम् ॥ १२ ॥

निज मान मोड़ जिसने त्यागा अरु संग, दोष, को दूर किया ।
 आत्मा में निरुच निमग्न रहे सब इच्छाओं को चूर किया॥
 सुख दुख सारी सब इन्द्रियों से जिसने है मुक्त को मोड़ लिया ।
 वह मुक्त हुआ जानी उसने परिहाटी पद को पाव लिया ॥
 रवि चन्द्र अग्नि के बिना सदा पैता वह पाव प्रकाशित है ।
 जित में जा लोग नहीं लीटें वह लोक सुखी में आश्रित है ॥६॥
 मन अंश पुरातन जीव धार इस लोक में आपविचस्ता है ।
 अन्धकार इन्द्रियों को मन को वह निज आकर्षित करता है ॥७॥
 जब ईश्वर तन धारण करता अथवा जब छोड़े है तन को ।
 जिसि मन्त्र पवन से जाती है वह से जाता इन्द्रिय मन को॥८॥
 पुनि कान नाक अरु जीव त्वचा अरु आखें भी वह रखता है ।
 मन के द्वारा इन सब से ही विषयों का सेवन करता है ॥९॥

बोधा—तन त्यागे, तन में रहे, करे गुणों से भोग ।

मूढ़ पुरुष जाने नहीं, देखें जानी लोग ॥

तन त्यागे अथवा रहे वहीं ॥ भोगे भोग गुणों द्वारा ।
 नर मूर्ख नहीं लखते उसको बस जानी है देखन द्वारा ॥१०॥
 वह योगी जन जो यत्न करे आत्मा में स्थित उस को जाने ।
 पर जिनकी आत्मा झुड़ नहीं वह मूढ़ उसे नहीं पहिचाने॥११॥
 जिससे सम्पूर्ण जगत् चमके रवि तेज प्रचण्ड कहावा है ।
 जो अग्नि, चन्द्र में तेज रहे वह सब मुक्त से ही जाता है॥१२॥

तान्नामिह च भूतानि सार्वभौमिकानि ।
 पुण्यानि चोपवीः सर्वाः सोमो भूत्वा सार्वभौमः ॥ १३ ॥
 अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः ।
 प्राणायानकृत्युक्तः पञ्चाम्बुजं बहुविधम् ॥ १४ ॥
 सर्वस्य चाः यदि सन्निविष्टो मयः सन्निविष्टोऽहम् ॥
 वेदैश्च सर्वैः ऽहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम् ॥ १५ ॥
 इन्द्रिमी पुरीषी लोके चरन्नाचर एव च ।
 चरः सर्वाणि भूतानि कृत्स्नोऽक्षर उच्यते ॥ १६ ॥
 उच्यतेः पुण्यत्वम्यः परमात्मेत्पुदाहृतः ।
 यो लोकत्रयमाश्रित्य विहर्त्यन्यत्र ईश्वरः ॥ १७ ॥
 यस्मात्परमतीतोऽहमव्यय इति चोच्यते ।
 व्यतीत्यस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥ १८ ॥
 यो मामेवमसंभूतो जानाति पुरुषोत्तमम् ।
 स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत ॥ १९ ॥
 इति गुह्यतमं ब्रह्मविद्ब्रह्म मयानय ।
 एतदुक्त्वा बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यरच भारत ॥ २० ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु कर्णार्पितायां योगशास्त्रे
 श्रीकृष्णार्जुनसंवादे पुरुषोत्तमयोगो नाम
 पञ्चदशोऽध्यायः ॥१५॥



मैं भूतल के भीतर रह कर भूतों को धारण करता हूँ ।
 वन कर वन वाला पशु पक्षी पीढ़ों का पीपण करता हूँ ॥१३॥
 प्राणी के वन में वन कर मैं जटसाग्नि ही बन जाता हूँ ।
 पुनि प्राणा वान वन द्वारा मैं पारी अन्न पचाता हूँ ॥१४॥
 सब के वन में रहता हूँ मैं, स्मृति ज्ञान अपोहन मुझ से है ।
 वेदवेद में वर्णित हूँ, प्रकटा वेदान्त मुझो से है ॥१५॥
 इस जग में पुरुष यही हो है, एक नस्वर हुआ नष्ट न हो ।
 नस्वर हूँ जग के भूत सभी अन्तर्यामि को अमर कहो ॥१६॥
 इनसे भी अन्य पुरुष उत्तम परमात्मा जो कहलाता है ।
 तीनों लोकों में बसि उनके पालन का भार उठाता है ॥१७॥
 चर अचर दोनों से उत्तम वन मैं ही माना जाता हूँ ।
 वेदों में, तीनों लोकों में, मैं पुरुषोत्तम कहलाता हूँ ॥१८॥
 जो मोह रहित होकर प्राणी मुझ पुरुषोत्तम को मानेगा ।
 सबे मन से जो मुझे बने वन यही पुरुष सब जानेगा ॥१९॥

होश-हो बचाया अनध ! यह मुक्त सास्त्र का ज्ञान ॥

जो जाने कृतकृत्य हो, और बने भीमान ॥२०॥

पुरुषोत्तम योग नाम का पन्द्रहवां अध्याय

समाप्त ॥



अथ षोडशोऽध्यायः

(दैवतपुर-सम्पत्तिविषय योग)

श्री भगवान् उवाच—

अमर्षं सत्त्वसंशुद्धिर्जनियोगव्यवस्थितिः ।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥१॥
अहिंसासत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम् ।
दया मृतेष्वसौकुण्ठ्यं मार्दवं क्षीरवाक्छर ॥२॥
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिवा ।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत ॥३॥
दम्भो दर्पोऽभियानश्च क्रोधः पाशव्यमेव च ।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ सम्पदमासुरीम् ॥४॥
दैवी सम्पद्दिनोद्याय निबन्धात्मासुरी मता ।
मा ह्युचः सम्पदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव ॥५॥
ह्यी भूतसर्गो लोकेऽस्मिन्दैव आसुर एव च ।
दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे शृणु ॥६॥
प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुःसमुदाः ।
न शौचं नानि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते ॥७॥

सौलहर्वा अध्याय ।

(वैशाख-हस्त-विषाख योग)

श्री भगवान्न बोले—

मायव बोले "सर्वदण्ड, दण्ड, उप, यज्ञ, दान, मन शुद्ध रहे ।
स्वाध्याय करे, हो शीघ्रान्त, मन हृदययोग में लगा रहे ॥१॥
अक्रोध, अहिंसा, शान्ति, त्याग, निन्दा दूजे की नहीं करे ।
हो मुहुता, दया, न लालच हो, अरु चंचलता को दूर करे ॥२॥
हो तेज 'ब्रह्मा' प्रति 'लक्षा' हो अद्रोह, शीघ्र, नहिं मान करे ।
ये गुण वह प्राणी रखता है जो सुरसंपत्ति लेकर जन्मे ॥३॥
कहु मायी और धमएडी हो पाखएडी हो या अनिलाली ।
जो असुर संपदा ले जन्मा, होता है वह नर अज्ञानी ॥४॥
सुर संपत्ति मोष दिलाती है पर असुरी बन्धन में डाले ।
सब शोक करो तुम हे पाखदव ! जन्मे हो दैवि संपत्ति ले ॥५॥
इह दिव्य, दूसरी आसुरि है, दो प्रति लोक में तुम्हीं भिनो ।
यह दैवी तुम्हें बधाया है असुरी का वर्णन अभी सुनो ॥६॥
क्या करना और नहीं करना यह असुर जानते नहीं कभी ।
ये हैं अशुद्ध अचार-हीन अरु झूठ बोलते नित्य सभी ॥७॥

असत्यमप्रतिष्ठं ते मत्तकुरुनीतिवत् ।
 अरस्परसम्भूतं चित्तमन्तर्द्वैतम् ॥८॥

एतां दष्टिमवष्टभ्य महास्त्वयोऽन्तरुद्धरः ।
 प्रभवन्त्युग्रकर्मास्तः सुखाय जगतोऽहिताः ॥९॥

कामसाक्षिरथ दुष्पूरं
सुखसाधनमदाप्तिवताः ।

तेषां दुष्टीरितस्तद्दुष्टाहं
कारुण्येऽश्रुविप्रताः ॥१०॥

चिन्तामपरिमेयां च बलवान्तद्बलविताः ।
 कामोपमोगवरमा एतावदिति निरिचताः ॥११॥

आशापाशशतैर्वन्धाः कायकोशरसाद्वन्धाः ।
 ईदन्ते कालबोन्धार्थमन्त्रबोन्धार्थसम्भवात् ॥१२॥

इदमद्य मया सुखमिदं प्राप्स्ये मनोरथम् ।
 इद्वन्तहीद्वनपि मे भविष्यति पुनर्धनम् ॥१३॥

असौ मया इतः सुशुद्धानिषे चापराधपि ।
 ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी ॥१४॥

आद्योऽमिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया ।
 यत्स्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः ॥१५॥

अनेकचित्तविभ्रान्ता मोदजालसमावृताः ।
 प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुची ॥१६॥

वे कहते हैं जब सदा है, अब ईश्वर रहित ।
 यह विषय मोक्ष के लिये बना, कारण इसके हैं नर नारी ॥८॥
 अब थोड़ी विचार सदा मन में मतिमन्द कर्णकरकर्म करें ।
 आत्मा है उनका मलिन हुआ, वे सदा जगत् का धर्म हरे ॥९॥
 दो १-इच्छाओं अहम् हों, दम्भ-मान-मद-मुक्त ।

सूद अहम् जन पाप में, रहते सदा प्रयुक्त ॥
 इच्छाओं तू नही होती, मद, मान, दम्भ से मुक्त हुए ।
 यह सूद अहम् जन अहम् हुए, पापों में निरप्य प्रयुक्त हुए ॥१०॥
 जो प्रलय काल तक बिटे नहीं ऐसी चिन्ता में रहते हैं ।
 सर्वस्य मोक्ष को ही मानें, निरु सगे उर्ध्व में रहते हैं ॥११॥
 काशा के जाली में फँसकर कामी कोषी बन जाते हैं ।
 ये विषय मोक्ष के लिये सदा पापों से द्रव्य कमाले हैं ॥१२॥
 बाबा है मैंने इतना धन, यह इच्छा पूरी थीर करूँ ।
 इतना धन मेरे पास था, कल थीर इसे इतना कर लूँ ॥१३॥
 यह दुरमन मैंने माना है, थीरों को भी मारूँ वा कल ।
 मैं ईश्वर हूँ, मैं मोक्षी हूँ, हूँ सिद्ध, कदन में है अति बल ॥१४॥
 मैं अति कुलीन सम्पति वाला, अब कौन काबर है मेरे ।
 इंदान यह मैं, मौज, करूँ, अलान मोह इनको घेरे ॥१५॥
 मतिमत् अनेक विचारों से निरु मोह वाला मैं फँस जाते ।
 यह विषय मोक्ष में निरु सदा नर अहम् नरक में फँस जाते ॥१६॥

कलहहन्तारिणः स्तब्धा वज्रहन्तारिण्यतः ।

यजन्ते नामयज्ञैस्ते ह्यनेनानिर्दिष्टैस्तत् ॥१७॥

अहङ्कारं यत्नं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः ।

नामात्मपरदेहेषु प्रद्विष्यन्ति यन्मद्विद्वदः ॥ १८ ॥

तानहं द्विषतः क रान्तं सारेषु नराधमान् ।

किन्तु यत्र कदाचिदुपपादयिष्येत् सोमिषु ॥१९॥

आसुरीं रोगिण्यस्या मृदा जन्मनि जन्मनि ।

तद्वदप्यहं कीन्तेषु ततो धान्दधमाङ्गतिम् ॥ २० ॥

त्रिविधं मरकत्स्पर्दं द्वारं नाशान्नास्तेनः ।

कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत् त्रयं त्यजेत् ॥२१॥

एतैर्विमुक्तः कीन्तेषु तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः ।

आचरत्पात्मनः श्रेयस्ततो याति पराङ्गतिम् ॥ २२ ॥

यः शास्त्रविधिमुन्मुज्य वर्तते कामकारतः ।

न तं सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परा यातिम् ॥ २३ ॥

तस्माच्छास्त्रं मायां ते कार्याकार्यव्यवस्थिनी ।

ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिदार्हति ॥ २४ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीता आर्यनिफनु महाविद्यायां योगशास्त्रे

श्रीकृष्णार्जुनसंवादे दैवासुर-सम्पद-विभाग योगो

नाम षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

अपने को बड़ा कहे, अकबरे, बन, मान, मनों में चूर रहे ।
 विधिरहित नाम को यज्ञ करें, पास्तुर्यों से भरपूर रहे ॥१८॥
 बल, क्रोध, अहंता, काम, दुर्ग के आश्रय को ही प्रहृत्य करें ।
 दुष्ट व्यापी से भी द्वेष करें, निन्दा कर आत्मा इनन करे ॥१९॥
 उन ऐसे द्वेषी क्रूरों को जो नीच कर्म निवृत्त करते हैं ।
 आसुरी योनियों में डालूँ वे नित्य वहाँ दुःख भरते हैं ॥२०॥

दादा—जन्म जन्म में वे अधम, योनि आसुरी पाँय ।

मुझे न पाकर वे सुदा, नीचे ही को जाँय ॥२०॥

दुष्ट क्रोध वज्रो, अति क्रोध वज्रो, निवृत्त हो काम से भी डरते ।
 वे तीनों द्वार नरक के हैं जो नष्ट आत्मा को करते ॥ २१॥
 हे कुन्तिपुत्र ! जो दूर रहे इन तीनों वज्र के द्वारों से ।
 वह पर मोक्ष को पाता है अपने अछूटे आचारों से ॥२२॥
 जो शास्त्र विधान नहीं माने, मनमाने भोगों में रहता ।
 वह मोक्ष कभी नहीं पाता है, कष्टों में बँका रहता ॥२३॥

श्रीकृष्ण—अर्जुन ! कार्य अकार्य में, मानो शास्त्र प्रमाण ।

कार्य करो बस वही जो, उसमें किया स्थान ॥२४॥

वेदव्यास-संज्ञा—शिवान योग नाम का
 शोकादृशो अभ्यास समाप्त ॥

अथ सप्तदशोऽध्यायः ।

(अष्टात्रय विमाम योग)

अङ्गुल क्वाच

ये शास्त्रविचिह्नस्तद्व्ययं यजन्ते सत्त्वान्निहः ।
तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वसाहो रजस्तमः ॥ १ ॥

श्री भगवान् क्वाच

त्रिविधा भवति अद्वा देहिनां सा स्वभावज्ञा ।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु ॥ २ ॥
सत्त्वानुरुपा सर्वस्य अद्वा भवति भारत ।
अद्वाभयोऽयं पुरुषो यो यच्छूद्रः स एव सः ॥ ३ ॥
यजन्ते सात्त्विका देवान्यद्भिरहोति राजसाः ।
प्रेतान्भूतमशांधान्ये यजन्ते तामसा जनाः ॥ ४ ॥
अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः ।
दम्माहङ्कारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः ॥ ५ ॥
कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः ।
मां चैवान्तः शरीरस्थं तान्विद्वांसुरनिश्चयान् ॥ ६ ॥



सतरहवाँ अध्याय

(भद्रात्रय विमाम योग)

अर्जुन ने पूछा—

अब किया प्रश्न यह अर्जुन ने तब शास्त्र बचन जो यज्ञ करें ।
इन सत्त्व रजस्तम तीनों में किस गति में वे नर जाय परें ॥१॥

श्री कृष्ण का उत्तर—

मगवन बोले, तू सुन अर्जुन ! यह भद्रा तीन तरह की है ।
सारिखी, राजसी, तमबाही, पैदा स्वभाव से होती है ॥२॥
भारत ! भद्रा सब पुरुषों में अनुकूल प्रकृति के होती है ।
इससे ही नर जाना जाता मानव की यही कसौटी है ॥३॥
सात्त्विक देवों का भजन करें पुनि राजस यक्ष, निशाचर को
अरु तामस भूत परेत भजें, अर्जुन ! भज तू एक ईश्वर को ॥४॥
जो प्राणी ऐसा तब करता जो शास्त्रों में है नहीं कहा ।
पासगट अहंता लिये हुए अरु काम राग में जाय बड़ा ॥५॥
ऐसे नर मूढ़ मुझे दुख दें जो विद्यमान तन में रहता ।
अरु पञ्च भूत को दुखी करें, मैं असुर सदा उनको कहता ॥६॥

आहान्स्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति त्रियः ।

पञ्चस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिदं शृणु ॥ ७ ॥

आयुः तत्पुत्रपौत्रोन्मूलनं त्रिविधम् ॥

अस्याऽस्मिन्धाऽस्मिन्नाहया आहाराऽस्मिन्निदमिदम् ॥ ८ ॥

कद्रुमजतवशात्पुष्पकीचशरुचानिदाहिनः ।

आहाराजं सम्प्रेष्टा हुन्मन्त्रोन्मूलनदाः ॥ ९ ॥

यावत्पात्रं मन्त्रसं

वृत्तिं ययुर्भितं च यत् ।

तच्छिष्टमपि सामेभ्यं

भोजनं वायनप्रियम् ॥ १० ॥

अकृताकांचिन्मिथो विविद्यन्तो य इज्यते ।

यदुज्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः ॥ ११ ॥

अमितमधाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत् ।

इज्यते मरुतश्रेष्ठं तं यज्ञं विद्धि वायसम् ॥ १२ ॥

विचिद्मीनमसृष्टात्रं मन्त्रहीनमदक्षिणम् ।

अद्वाविरहितं यज्ञं वायसं परिचक्षते ॥ १३ ॥

देवद्विज्जुष्टमाहूयमानं शौचमार्चयत् ।

सप्तचर्चमद्विष्टा च शमीरं सप उज्यते ॥ १४ ॥

अनुद्देशकरं वाक्यं सत्यं त्रिपदितं च यत् ।

स्वाध्यायाम्यसनं चैव वाङ्मयं सप उज्यते ॥ १५ ॥

भोजन भी सुनलो अर्जुन ! तू यह तीन तरह से ग्रिय होते ।
 तप, दान, यज्ञ के निम्न भेद होते हैं विच स्वभावों से ॥७॥
 जो अन्न सत्य, परस्परक हो सुख, प्रीति बढ़ाये, स्वरस करे ।
 रसदार, चिकना, शौष्टिक हो वह भोजन सात्विक गुरुप करे ॥८॥
 कड़वा, लड़ा, नमकीन, गरम, तीखा, हल्का जो अन्न करे ।
 यह भोजन राजस को प्याना दुःख, शोक, मोह उत्पन्न करे ॥९॥
 जो पक्का बेर से हो, बारी, दुर्गन्धयुक्त अन्न नीरस हो ।
 भूटा, अवशिष्ट, सड़ा भोजन तमस जन साते उसको ॥
 दोहा—बारी, भूटा, हो सदा, हो जिसमें दुर्गन्ध ।
 नीरस भोजन को बरे, तामस जन सतिमद ॥१०॥
 फल की इच्छा को तज बर जो विधि से कर्तव्य समझ उसको ।
 यह सात्विक यज्ञ कहाता है सच्चे मन से करते जिसको ॥११॥
 जो फल की इच्छा से करते जिसमें वासंठ दिखाता है ।
 हे भारत ! सुन लो तुम इसको यह राजस यज्ञ कहाता है ॥१२॥
 विधि-दान-दक्षिणा-हीन सखे ! मन्त्रों का जिसमें काम नहीं ।
 यह तामस यज्ञ कहाता है जिसमें ऋद्धा का नाम नहीं ॥१३॥
 गुरु, देव, माहर्ष, जानी की पूजा करना, शुचि साधारण ।
 मन बरो अहिंसा ब्रह्मचर्य, इन कार्यों से तपता है तन ॥१४॥
 प्रिय सत्य सुखद बाची बोले दितकर जो कवन सुनाता है ।
 नित धर्म ग्रन्थ का पाठ करे बाची का तपी कहाता है ॥१५॥

मदः प्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मनिष्ठम् ।

आरतं हृदि स्थितं तपो मानसमुच्यते ॥ १६ ॥

अद्वया परया तप्तं तपस्तत् त्रिविधं नरैः ।

अकलहाभं विदितुं कौः सात्त्विकं तद्विचक्षते ॥ १७ ॥

हस्तकामानन्दद्वारं तपो दम्भेन चैव यत् ।

क्रियते तदिह प्रोक्तं शब्दसं चतुर्माधुर्यम् ॥ १८ ॥

द्व्यङ्ग्येन्द्रात्मनो पत्नीद्वया क्रियते तपः ।

परस्पोत्सङ्गः शी वा तदायत्तमुदाहृतम् ॥ १९ ॥

दातव्यमिति यद्दानं

दीयतेऽनुष्ठायिते ।

देशो कालो च पात्रे च

तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम् ॥ २० ॥

यत् प्रत्युपकारार्थं कलमुदित्य वा पुनः ।

दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं शब्दसं स्मृतम् ॥ २१ ॥

अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते ।

अस्तु तत्तमवज्ञातं तदायत्तमुदाहृतम् ॥ २२ ॥

यो तत्तदिति निर्देशो ब्रह्मस्थिप्रविष्टः स्मृतः ।

ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विदिताः पुनः ॥ २३ ॥

तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपः क्रियाः ।

प्रवर्तन्ते विधानोपज्ञाः सततं ब्रह्मणादिनाम् ॥ २४ ॥

जो नित्य प्रसन्न रहे मन में, हो शांति, मौन, संयम वाला ।
 है मानस तपी बड़ी जिसने निज माघ शुद्ध होकर वाला ॥१६॥
 अति श्रद्धा से जो किया गया तप तीन तरह का होता है ।
 फल की इच्छा के त्याग सहित यह शुद्ध सार्विक होती है ॥१७॥
 सत्कार, मान श्री पूजा दित पास्तण्ड सहित जो तप करते ।
 यह अस्थिर और अनिश्चित है इसको, है रागस तप कहते ॥१८॥
 मूर्खता से करु दठ करके जो कष्ट उठाव लिया जावे ।
 पर-नाश रूपय रख कर मन में वह तामस तप ही कहलावे ॥१९॥
 देना ही है इस आशय से बदला मिलने की आस न हो ।
 लालि देशकाल करु दायदिया उसको ही सार्विक दान कहो ॥
 दोहा—देना है इस भाव से, नहीं लाभ तर आन ।

देश, काल श्री पात्र लालि, देवे सार्विक दान ॥२०॥

बदला मिलने की आशा से जो फल की इच्छा सहित दिया ।
 अति दुखके साथ दिया जावे वह दान राजसीकहायरा ॥२१॥
 अवसर श्री स्थान बिना देसे जो कुछ कुपात्रको दान करे ।
 अभिमान निरादर से देना उसका ही तामस नाम पड़े ॥२२॥
 ब्रह्मा का वर्णन तीन तरह श्री तद् सद् द्वारा किया गया ।
 पहले इसके द्वारा ब्राह्मण अरु वेद यज्ञ निर्माण हुआ ॥२३॥
 वेदों में जिनका चित्त लगा अति श्रद्धा से तप कर्म करें ।
 वे नाम “श्री” का लेकरके विधिसे तप दान व यज्ञ करें ॥२४॥

ददितुमर्हति कृतं फलं यत्नतः क्रियाः ।

दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मायकां विभिः ॥ २३ ॥

सद्भावे साधुभावे च ददितुमर्हति ।

प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः कार्यं युज्यते ॥ २४ ॥

यत्ने तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते ।

कर्म चैव तदधीनं सदित्येवादिधीयते ॥ २५ ॥

अथ भद्रया कृतं दत्तं

तवस्तप्तं कृतं च यत् ।

असदित्युच्यते वार्यं

न च तत्प्रेत्य नो इह ॥ २८ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु अष्टाध्याय्यां योगशास्त्रे

श्रीकृष्णार्जुनसंवादे अष्टाध्यायिभाष्ययोगो

नाम अष्टादशोऽध्यायः ॥ २७ ॥



पुनि मुक्ति की जो चाह करें “सत्” का उच्चारण करते हैं ।
 फल की इच्छा को तज देते अब दान, यज्ञ, तप करते हैं ॥२५॥
 सचाई और भलाई में “सत्” नाम उच्चार जाता है ।
 उत्तम कर्मोंमें जो अर्जुन ! यह “सत्” प्रयोग में आता है ॥२६॥
 तप, यज्ञ, दान में दृढ़ता को ज्ञानीजन “सत्” बतलाते हैं ।
 जो प्रभु के हेतु किये जायें “सत्” वह भी तो कहलाते हैं ॥२७॥
 तप, दान, यज्ञ, अरु अन्य कर्म जो अद्वर्जित किये जाते ।
 हैं लाभ हीन दुहुं लोकों में “असत्” कर्म हैं कहलाते ॥

दोहा—बिन श्रद्धा के जो किया, कर्म, यज्ञ, तप, दान ।

अर्जुन ! वह सब असत् है, होय न उसका मान ॥२८॥

अद्भ्यः त्रय विभाग योग नाम का सतरहवां

अध्याय समाप्त ॥



अथ अष्टादशोऽध्यायः ॥

(मोक्ष संन्यास योग)

शत्रुर्न उवाच—

संन्यासस्य महाबाहो तत्परिच्छदस्तिरेविदुः ।
स्यामस्य च इपीकेश पृथक्तेऽस्तिरेविदुः ॥ १ ॥

श्री भगवान् उवाच—

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः ।
सर्वकर्मफलत्यागं प्रादुस्त्यागं विचक्षणाः ॥ २ ॥
त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्रादुर्भूनीपिण्डः ।
यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यमिति चापरे ॥ ३ ॥
निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम ।
त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः सर्वकीर्तितः ॥ ४ ॥
यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत् ।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणां ॥ ५ ॥
एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च ।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुच्यते ॥ ६ ॥

अठारहवां अध्याय

(मोक्ष सन्धास योग)

अर्जुन ने प्रश्न किया—

अर्जुन ने पूछा है भगवन ! सन्धास, त्याग का मेद कहे ।
समझाओ दोनों अलग अलग जब तक मन संशय दूर न हो ॥१॥

श्री कृष्ण का उत्तर—

तुम इच्छित कर्म तबो अर्जुन ! सन्धास यह कहलाता है ।
पुनः कर्मों के फल को त्यागे वह ही त्यागी बन जाता है ॥२॥
कृष्ण बुद्धिमान जन यह कहते हैं कर्म नहीं कोई अच्छा ।
कृष्ण कई यज्ञ, तप, दान कहे इनका तो करना ही अच्छा ॥३॥
विस्तार सहित बतलाता हूँ इतमें तू मेरा मिथय सुन ।
वह तीन तरह का होता है जो विषय त्याग का है अर्जुन ॥४॥
तप, दान, यज्ञ मत छोड़ो तुम यह कर्म किने जाने वाले ।
वे नर पवित्र हो जाते हैं तप, यज्ञ, दान करने वाले ॥५॥
निज कर्मों में भी संय तबो, फल की इच्छा तज, कहे सदा ।
यह उच्चम सम्मति देता हूँ तुम इस पर अर्जुन ! चलो सदा ॥६॥

निवृतस्य तु संन्यासः कर्मसो नोत्पद्यते ।
 मोक्षाच्चस्य परित्यागस्याभवः परित्यजितः ॥ ७ ॥
 दुःखमित्येव यत्कर्म सत्यस्तौह्यस्यस्यजेत् ।
 स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत् ॥ ८ ॥
 कार्यमित्येव यत्कर्म निवृतं क्रियतेऽर्जुन ।
 सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः ॥ ९ ॥
 न ह्येष्टुं पश्यासं कर्म कुरुते नातुपद्यते ।
 त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी क्षिप्रार्जुनस्यः ॥ १० ॥
 न हि देहभृता शक्यं त्यस्तुं कर्मापरिणतः ।
 यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ॥ ११ ॥
 अनिष्टमिष्टं मिथं च त्रिविधं कर्मणः फलम् ।
 अक्षय्यत्यागिनां प्रेक्ष्य न तु संन्याशिनां क्वचिद् ॥ १२ ॥
 पञ्चैतानि महाबाहो काम्यानि निषेध मे ।
 सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम् ॥ १३ ॥
 अधिष्ठानं तथा कर्मां करणं च दृष्टनिषम् ।
 विविधाश्च वृषकनेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम् ॥ १४ ॥
 शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म शारमतो नवः ।
 न्याय्यं वा विवरीतं वा पञ्चैते तस्य देववः ॥ १५ ॥
 तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः ।
 वस्यत्यकृतशुद्धित्वान्न स वसति दुर्मतिः ॥ १६ ॥

- कर्तव्य कर्म का त्याग सदा अनुचित ही माना जाता है ।
 जो कर्म मोक्षदा त्याग करे वह त्याग त्याग कहाता है ॥१७॥
 मन में दुःख अनुभव करके जो शुभ दुःखद कर्म से सदा दूरे ।
 वह त्याग त्याग कहाता है मर लाभ नहीं दुःख प्राप्त करे ॥१८॥
 “जाना ही है” यह निश्चय कर कर्तव्य कर्म को कर लेगा ।
 आसक्त न हो फल को त्यागे सात्विक त्यागी कहलावेगा ॥१९॥
 दोहा-बुद्धिमान, शुभ भाव युत, त्यागी संशय हीन ।
 दुःखद कर्म त्यागे नहीं, हे न दुःखद में लीन ॥२०॥
 कर्मों का विरहल लज देना यह अनुत और असंभव है ।
 जो कर्म फलों का त्याग करे वस कही त्याग एक संभव है ॥२१॥
 मर इन प्रकार जो त्याग करे शुभ, अशुभ, विष फल पाता है ।
 पर कर्म सर्वथा जो लज दे फल नहीं कोई भी पाता है ॥२२॥
 सब कर्म सिद्ध होने के ये, सब कारण पात्र बताये हैं ।
 तुन सुझते सभी महानाह । यह सांख्य शास्त्र में पाये हैं ॥२३॥
 कर्ता, आचार, विविध साधन अह विविध क्रियाएँ पाते हैं ।
 पुनि पञ्चम है प्रारम्भ तथा यह कारण पात्र गिनते हैं ॥२४॥
 काया से, मन से, वाणी से कोई भी कर्म किया जाये ।
 वह अनुचित हो या शास्त्र कथित यह पात्रों कारण दिसलाये ॥२५॥
 यह होने पर भी बुद्धि अष्ट अपने को ही कर्ता मानें ।
 अति मलिनबुद्धि उनकी/अनुत्तम । मतिमन्द नहीं बुद्ध भी जानें ॥२६॥

कस्य नादृक्कृतो जातो बुद्धिर्वैय न सिध्यते ।
 इत्यादि स ह्यन्यथेति न निवर्त्यते ॥ १७ ॥
 ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मभेदेन ।
 कर्मणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मलक्षणः ॥ १८ ॥
 ज्ञानं कर्म च कर्ता च त्रिवैव सुखमेवम् ।
 प्रोच्यते सुखसंख्याने पञ्चावच्छृणु तान्यपि ॥ १९ ॥
 सर्वभूतेषु चैवैकं भाष्यमप्यवधीकृतं ।
 अविशेषा विमर्शेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकं ॥ २० ॥
 दृक्कृतं च तज्ज्ञानं भावाभावावृण्विधात् ।
 चेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम् ॥ २१ ॥
 यत्तु कुरुत्ववदेकस्मिन्कार्ये तत्कर्मैतुकम् ।
 अतस्तद्वदद्वयं च तत्तामसमुदाहृतम् ॥ २२ ॥
 निवर्तं संवदितमप्यवद्वेषतः कृतम् ।
 अतस्तप्रेषुना कर्म यत्तत्तामसिदृश्यते ॥ २३ ॥
 यत्तु अवेष्टुना कर्म साहज्येण वा पुनः ।
 क्रियते बहुलाचारं तज्ज्ञानमुदाहृतम् ॥ २४ ॥
 अनुद्वयं चयं द्विसाधनवेद्यं च वीर्यम् ।
 बोधादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते ॥ २५ ॥
 सुखसहोन्नतवादी शुद्धतामसमन्वितः ।
 सिद्धयतिष्ठ योर्विद्विष्यतः कर्ता सात्त्विक उच्यते ॥ २६ ॥

जो अहंकार से खाली है ऐसा निर्लेप बली वाला ।
जब को भी मार, नहीं मारे, नहिं कन्धन में जाने वाला । १७
नित ज्ञेय, ज्ञान, ज्ञाता मिलकर सबसे ही कर्म कमाने हैं ।
अरु कर्ता, करण, क्रिया मिलकर बहुतीनों कर्म बनाते हैं ॥१८॥

श्रीकृष्ण-कर्म, कर्ता कहे । तीन तरह के ज्ञान ।

बुद्धिबुद्धि सब भेद यह, करण साक्ष्य बलान ॥१९॥

सब भूतों में जिसके द्वारा तुम एक भाव को नित देखो ।
अरु भेद भिन्नता में देखो वस सात्त्विक ज्ञान उसे कह्यो ॥२०॥
नर भिन्न २ होने से जो उन सब में भाव अलग कर दे ।
वह राजस ज्ञान कहाया है जो द्वैत भाव पैदा कर दे ॥२१॥
सर्वत्र वेद को बसलाने अरु उस में ही आसक्त रहे ।
जो बुक्ति-हीन अरु हरत्र-रहित हूनि इसको तामस ज्ञान कहे ॥२२॥
जालरहित-रहित फल-त्याग न हो अरु द्वेष राग का नाम न हो ।
ऐसे जो कर्म किया जाय उसको ही सात्त्विक कर्म कहो ॥२३॥
है इच्छा जिसमें मोक्षों को अरु अहंकार से किया गया ।
जिसमें दो तन को कष्ट बहुत वस राजस उसको कहा गया ॥२४॥
परिग्राम क्षान्ति अरु हिंसा का निवृत्ति सोने मोह-रहित करना ।
वह तामस-कर्म कहाया है भिन्न बलका ज्ञान नहीं करना ॥२५॥
जो अहंकार आसक्ति निना उत्साह धैर्य से है करता ।
तुम सात्त्विक-कर्ता-कहे उसे, उत्साह धैर्य फल में परता ॥२६॥

राशी कर्मफलप्रसूतः ।

इष्टोत्पत्तिः कर्ता राजसी ॥२७॥

अपुष्टः पाकृतः स्वस्थः शरीरैः प्रसूतः ।

विषादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामसी ॥२८॥

बुद्धेर्भेदं हृतेष्वैव गुणतस्त्रिविधं शृणु ।

प्रोक्तपञ्चदशयोगैश्च पृथक्स्थेन धनज्ञय ॥२९॥

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च उत्पत्त्यर्थे भवामये ।

मन्यं मोक्षं च वा वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥३०॥

यथा धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च ।

अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी ॥३१॥

अधर्मं धर्ममिति वा मन्यते तमसाधृता ।

सर्वार्थान्विपरीताश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी ॥३२॥

हृत्वा यथा धारयते मनः प्राप्तेन्द्रियक्रियाः ।

योगैश्चन्द्रियविद्यया हृतिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥३३॥

यथा तु धर्ममाधर्मान्पृष्ट्वा धारयतेऽसुम ।

प्रसङ्गेन कलावांशी हृतिः सा पार्थ राजसी ॥३४॥

यथा स्वप्नं भवं शोकं विषादं कदमेव च ।

न विमुञ्चति दुर्मेधा हृतिः सा पार्थ तामसी ॥३५॥

कुलं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ ।

अभ्यासाद्भवते यत्र दुःखान्तं च निमज्जति ॥३६॥

पुनि रामी फल की चाह करे हो लोभी हिंसक महा मतिन ।
 फल से इर्षित अरु शोकित हो लोभी ही राखस कर्ता दिव्य ॥२७॥
 शठ सूखे कर्म से मुक्त न हो, करने में देर लगाता है ।
 हो भयभी, नीच, उदास रहे रामस-वर्षा कदलाता है ॥२८॥

शेष—दुष्ट और दुष्ट भी वैसे । तीन तरह को जान ।

पुनानुसार सब भेद ये, इनका कर्म बखान ॥२९॥
 प्रवृत्ती और निवृत्ती में क्या करना है क्या नहीं करो ।
 वचन अरु मोक्ष मयामय में जो भेद लसे मति सात्विक हो ॥३०॥
 जो धर्म अधर्म नहीं देखे कर्तव्य कर्म नहि रहचाने ।
 जिसमें हो ज्ञान विवेक नहीं पुनि राखस-दुष्टि उसे जाने ॥३१॥
 पुनि अन्धकार से विभी हुई ज उल्ला पाठ पढ़ाती है ।
 करना अधर्म दिखलारे जो वह रामस-बुद्धि कदाही है ॥३२॥
 इकनिष्ठ धारणा है जिसकी, मन, इन्द्रिय-शब्द क्रियाओं में ।
 समझी से इनको धारे, हो सात्विक दृष्टि दिशाओं में ॥३३॥
 जिस दृष्टि से हो आसक्त पुरुष परमार्थ काम मन में धारे ।
 मन में जो फल की चाह करे हो राखस-दुष्टि उसकी धारे ॥३४॥
 जिससे दुर्बुद्धि नहीं ल्यागे, निद्रा, मय, शोक, उदास रहे ।
 वह सब की नहीं लखे प्राणी नर-रामस-दृष्टि का दास रहे ॥३५॥
 अब तीन तरह का हूँ कहदूँ तू ध्यान लगाकर इसको सुन ।
 हूँ का अन्धकार प्रसन्न करे हो अन्य दुखों का है अन्धन ॥३६॥

वचदग्रे निषमिव विज्ञेयममम् ।

तत्तुल्यं सात्त्विकं शोकयासाद्युत्तिष्ठतम् ॥३७॥

विपयेन्निद्रासंयोज्यदृष्ट्यैः श्रुतममम् ।

परिग्रामे विषमिव तत्तुल्यं राजसं स्मृतम् ॥३८॥

पदग्रे चाशुचये च तुल्यं मोहनमारमनः ।

निद्राकृत्स्नमादोर्षं तत्तुल्यं तद्वत् ॥३९॥

न तदस्ति शृण्व्यां वा दिशि देवेषु वा पुनः ।

तत्त्वं प्रकृतिर्गुणैर्गुणैर्गुणैः सदादिदिशि ॥४०॥

माह्व्यद्विषयिणां शृङ्गाणां च वरन्तव ।

कर्माणि प्रविशन्तानि स्वभावमवैर्गुणैः ॥४१॥

शुभो दमस्तपः शीघ्रं क्षान्तिरात्रवसेव च ।

ज्ञानविज्ञानमास्तिक्यं मन्त्रकर्म स्वभावजम् ॥४२॥

शीघ्रं तेजो धृतिर्दास्यं युद्धे चाप्यवस्थापनम् ।

ज्ञानमीश्वरभावश्च शीघ्रं कर्म स्वभावजम् ॥ ४३ ॥

कृपिणीरक्षमाशिन्यं वैश्यकर्म स्वभावजम् ।

चरित्रार्त्तकर्म कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ॥ ४४ ॥

स्वे स्वे कर्मण्यविरतः संतिष्ठि क्षमते नरः ।

स्वकर्मनिरतः सिद्धिः यथा विन्दति तच्छृणु ॥ ४५ ॥

यतः प्रकृतिभूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।

स्वकर्मणा तन्मन्त्रं सिद्धिं विन्दति मानवः ॥ ४६ ॥

पहिले जो कहन दिखाई दे भविष्य भला लेकिन होवे ।
 वह सुख भौतिक कहलाता है जो बुद्धिप्रसाद जनित होवे ॥३०॥
 जो निषय इन्द्रियों से होता पहले अमृत सा जाता है ।
 पर निष लभान भविष्य भले वह भवभङ्ग-दुख कहलाता है ॥३१॥
 आरम्भ अन्त दोनों में ही जो सुख मोहित कर देता है ।
 निद्रा आलस्य प्रसाद जनित वह नाम लामसी खेता है ॥३२॥

दोहा-दुष्की या आकाश में, अरु देखो से मुक्त ।

कोई नहीं, जो प्रकृति के, तीन गुणों से मुक्त ॥३३॥

मादय जत्रिय वैभों शत्रो के कर्म बताता हूँ तुमको ।
 ये गुण अनुसार विभक्त हुए सब मैं समझाता हूँ तुमको ॥३४॥
 शम, दम, तप शीघ्र, समा अनुसार आस्तित्व ज्ञान सरलता हो
 ये गुण मादय में होते हैं अरु मुख पर तेज झलकता हो ॥३५॥
 हृति तेज धीरता चतुर्दश में यदि पीठ दिखाता है ।
 नित दान करे प्रसूता रखे वह जत्रिय चतुर कहाता है ॥३६॥
 खेती व्यापार, मऊ-रक्षा यह वैश्य प्रकृति से करता है ।
 अरु शत्रु स्वभाव यही जानो वह सबकी सेवा करता है ॥३७॥
 जो अपने २ कर्म करे नर मुक्त बर्हि हो जाते हैं ।
 वे सिद्धि भला कैसे पाते जब दम तुमको बताता है ॥३८॥
 जिसने शत्रुपक्ष किया जम को व्यापी सर्वत्र कहाता है ।
 नम कर्मों से जो मने उसे बस मोक्ष बर्हि नर पाता है ॥३९॥

धेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
 स्वर्गायविपश्च कर्म कुर्वन्नापरेष्टि किम्विपश्च ॥ ४७ ॥
 सद्ब्रह्मं कर्म कीन्तेषु ततोपपत्तिं न स्पृजेत् ।
 सर्वारम्भा हि दोषेभ्य इवेकस्मिन्निष्पद्यन्ते ॥ ४८ ॥
 असक्तबुद्धिः सर्वत्र बितात्मा विमलसङ्गः ।
 नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां सुन्यासेनापिमप्स्यति ॥ ४९ ॥
 सिद्धिं शक्नो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे ।
 समासेनैव कीन्तेषु विष्णु ज्ञानस्य वा परा ॥ ५० ॥
 बुद्ध्या विदुर्बुद्ध्या युक्तो हृत्प्रात्मानं नियम्य च
 शब्दादीन्विषयास्त्यक्त्वा समद्धेयौ ज्युदस्य च ॥ ५१ ॥
 विविक्तहेतुः सुखाशी यतवाक्ययमानसः ।
 श्चानयोगयोगो नित्यं वैराग्यं सधुपाश्रितः ॥ ५२ ॥
 अहङ्कारं धर्मं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम् ।
 विद्वन्मन्त्रिर्ममः शान्तो ब्रह्मभूषाव कल्पते ॥ ५३ ॥
 ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति ।
 समः सर्वेषु भूषु मज्जति क्षमः परमम् ॥ ५४ ॥
 भक्त्या धामनिश्चिन्ताति पावान्पश्यान्मि सत्त्वतः ।
 ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥ ५५ ॥
 सर्वशर्मपिपतिः सदा कुर्वाणो महोष्वाश्रयः ।
 मत्प्रसादादवाप्नोति शास्वतं पदमन्ययम् ॥ ५६ ॥

पर-धर्म सुगम भी हो तबसे निज धर्मचिन्तुष्य अच्छा जानो ।
 जो निज स्वभाव से कर्म करे वह चाही नहीं बना जानो ॥४७॥
 जो कर्म स्वभाविक है अपने यदि दोष शुक्त हों, नहीं तजे
 प्रत्येक कर्म है दोष सहित जूँ धुँसा आम को नहीं तजे ॥४८॥
 आसक्त नहीं भी नहीं रहे, मन जीत, कामना त्यागी है ।
 सदा सन्मत्सो है वह नर, वस रही मोक्ष का भागी है ॥४९॥

छेदा-छिन्न दोष नर ब्रह्म को अर्जुन ! कैसे पाय ।

पराकाष्ठा ज्ञान की, तुझे देऊँ समझाय ॥५०॥

जो शुद्ध बुद्धि वाला योगी, अपने को नित वश में रखे ।
 रस, रूप, गन्ध, ध्वनि, स्पर्श तजे नहि राम रहे व मन में रखे ५१
 मन, काय, वचन का संयम कर नित रहे अकैला कम लावे
 वैराग्य सहारा लेकर जो नित ध्यान योग में लग जावे ॥५२॥
 क्रोध, काम, अहन्ता क्रोध तजे अरु जो धनसंग्रह को त्यागे ।
 समता सब शान्त रहे मन में अरु ब्रह्मभाव उसमें जागे ॥५३॥
 बुद्धि ब्रह्म भाव को पाकर वह सारूप देखता है सबको ।
 हो सुखी, न इच्छा शोक करे, वस वस भक्त वह भेग हो ॥५४॥
 मैं जो कुछ हूँ अरु जैसा हूँ जो सभी उत्प से आनेवा ।
 समझेगा असली रूप भेग वस रही सुखे रहस्यनेह ॥५५॥
 बुद्धि मुझमें आश्रय पाकर के अपने कर्मों में लगा हुआ ।
 पद अमर सनातनवाता है मम दया पात्र वह बना हुआ ५६॥

येतन्ना सर्वकर्मणि यमि संन्यस्य सत्यतः ।
 दुष्टिषोऽनुत्तराभिरु मयिवाः सततं भव ॥ ४७ ॥
 सचित्तः सर्वदुर्गाणि उत्तराह्वानदिभ्यति ।
 अथचैतद्व्यमद्वैतान्न शोभ्यति विनश्यति ॥ ४८ ॥
 एतद्व्यमद्वैतं न पोस्त्य इति वक्ष्यते ।
 मिथर्वैव व्यवसायस्य प्रकृतिस्त्वां निपात्यति ॥ ४९ ॥

एतद्व्यमद्वैतं कीन्तेष

नियतः स्वेन कर्मणा ।

अतु नेच्छति एतद्व्यमद्वैतं

इतिभ्यस्त्वयोऽपि तत् ॥ ५० ॥

हैवरः सर्वभूतानां हृदयेऽर्जुन तिष्ठति ।

आमकन्तर्वभूतानि यन्वाक्यानि मायया ॥ ५१ ॥

तमेव शृण्वं मम ह सर्वमात्रेण भारत ।

एतद्व्यमद्वैतं शान्तिं स्थानं शान्तिं शान्तिं ॥ ५२ ॥

इति ते ज्ञानमाकृतं सुधादुग्धतरं मया ।

विमृश्यैतदशेषं पश्येच्छसि तथा कुरु ॥ ५३ ॥

सर्वगुणतमं भूयः शृणु मे परमं सत्यम् ।

इत्येवं मे एवमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम् ॥ ५४ ॥

ममना मम ममको मयाजी मां नमस्कुरु ।

यामेवैष्यति एतत् ते प्रतिग्रामे त्रियोऽपि मे ॥ ५५ ॥

मन से सब कर्मों को मुझ में अर्पण करके तुम इसे भरो ।
 अरु ज्ञान बुद्धि का आश्रय हो संशय निवृत्त मन के समीप हो ॥४७॥
 मुझसे फिर निश्चय लगाने पर सब कष्टों से तर जायेगा ।
 यदि नहीं सुनेगा तू मेरी तो सर्व नाश हो जायेगा ॥४८॥
 अभिमान सहारा ले करके यदि मुझ न तू कर पायेगा ।
 सब प्रकृति मुझ करानेगी निश्चय मिथ्या हो जायेगा ॥४९॥

सोहा—नर स्वभाव से है बंधा, मन साहि में देव ।

नहीं मोहवश जो करे, परवश हो कर लेव ॥

तू है स्वभाव से बंधा हुआ उसके अनुकूल करेगा तू ।
 जो नहीं मोहवश अब करता परवश हो रही करेगा तू ॥५०॥
 परमेश्वर सब के मन में है, माया से उन्हें चलाता है ।
 ज़िमी बैठ पन्थ के उपर नर मन माना उसे घुमाता है ॥५१॥
 लक्ष्मी ही शरणा पकड़ मारता । अरु मुझ भाव से ध्यान लगा ।
 तू अमर शान्ति मय वर पावे हो जावे उसकी अमर दया ॥५२॥
 यह गुप्त ज्ञान बतलाया है इसका तुम मनन करो अर्जुन ।
 फिर जो कुछ तुमको उचित लगे वैसा ही कर्म करो अर्जुन ॥५३॥
 पुनि सब से गूढ़ वचन को सुन कुछ और तुझे बतलाया हूँ ।
 तू मुझकी अतिशय प्रीति है इस लिये तुझे समझाया हूँ ॥५४॥
 मुझ से ही लगन लगा प्यारे सब यज्ञ तुझे कर दे अर्पण ।
 फिर मुझ को ही पायेगा तू यह ही मेरा है अविषल प्रय ॥५५॥

सर्वधर्मान् पतित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
 अहं त्वा सर्वपापेभ्यो जेह्विष्यति वा शुभः ॥६६॥
 इह ते मातृपस्त्राय नामक्ताय कदाचन ।
 न चाशुभं पुन वाच्यं न च मां रोद्धमस्तसि । ६७॥
 य इह परमं शुभं मद्भक्त्येव निधातसि ।
 यत्किं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः ॥६८॥
 न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः ।
 मयि न च मे तस्मादन्वः प्रियतरो ह्यवि ॥ ६९ ॥
 अध्येष्यते च य इमं धर्मं सम्पादयावरोः ।
 ज्ञानपथेन तेनाहमिहः स्थासि मे मतिः ॥ ७० ॥
 भद्रावानमश्रय्य मृगयादपि वो नरः ।
 सोऽपि मुक्तः दुर्गोच्छेदस्तुल्यस्तुल्यदर्शनवान् ॥७१॥
 कश्चिदेतच्छ्रुतं धर्मं स्ववैद्याश्रये चेतसा ।
 कश्चिदज्ञानसंमोहः प्रवहस्ये वनजम् ॥ ७२ ॥

अनुने ज्ञान—

नष्टो मोहः स्मृतिर्लम्बा त्यस्रस्तादान्मयाच्युत ।
 स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव ॥ ७३ ॥

सकल बोद्धा—

इत्यहं वासुदेवस्य धर्मस्य च महात्मनः ।
 सम्पादयिष्ये धीमद्वृतं रोमदण्डम् ॥ ७४ ॥

कर सब धर्मों का स्वागत सजे । मुझ में ही भवान् कदा प्यारे ।
 पापों से मुझ को मुक्त करूँ मन में मत शोक बना प्यारे ॥६६॥
 जो नहीं तपस्वी, भक्त नहीं, सुनने से जिसे परे रहना ।
 अरु मुझसे द्वेष करे जो नर दहारी वह जान नहीं पहचाना ॥६७॥
 यह गूढ़ ज्ञान मन बन्धों को जो कोई पुण्य सुनावेगा ।
 यह परम भक्ति येरी करके निधप से मुझको पावेगा ॥६८॥
 उस से बढ़कर सारे जग में मुझ को है कोई नहीं विद्यतम ।
 आगे भी कोई नहीं होवा निधप से यह कहते हैं हम ॥६९॥

होइ—इसी धर्म संवाद का, जो कर ले अभ्यास ।

ज्ञान यह से मजबूत कर, पावें मेरे पास ॥७०॥

जो द्वेष रहित थका पूर्वक इस गूढ़ ज्ञान को सुन लेगा ।
 होकर यह मुक्त भले लोगों के पर धाम को पावेगा ॥७१॥
 अर्जुन ! मुझ को अब यह वक्ता मेरा उपदेश सुना तुने ।
 क्या दूर हुआ अज्ञान तेरा पूरक निज मोह किया तुने ? ॥७२॥

अर्जुन बोला—

सब नष्ट हुआ है मोह मेरा अर्जुन बोला, मैं सबका क्या ।
 सन्देह नहीं मन में बाकी तब वचन मानने सका हुआ ॥७३॥

संजय बोला—

सञ्जय बोला संवाद अजब यह वासुदेव श्री अर्जुन का ।
 हे भूप ! सुना सारा मैंने मन को रोमाञ्चित है करता ॥७४॥

व्यासप्रसादाच्छ्रुत्वा तत्राग्रेऽहं कृतं स्वयम् ।

योगं योगैरसहस्रैश्चैव तत्रैव तत्रैव स्वयम् ॥ ७५ ॥

राजन्संस्मृत्य संस्मृत्य कृतं तत्रैव तत्रैव स्वयम् ।

केशवास्तु नयोः पुण्यं इष्यामि च मुहुर्मुहुः ॥ ७६ ॥

तत्र संस्मृत्य संस्मृत्य कृतं तत्रैव तत्रैव स्वयम् ।

विस्मयो मे महान राजन् इष्यामि च पुनः पुनः ॥ ७७ ॥

यत्र योगैरसहस्रैश्चैव तत्रैव तत्रैव स्वयम् ।

तत्र श्रीविजयो भूतिधर्वा नीतिर्मतिर्मम ॥ ७८ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु महाविद्यायां योगशास्त्रे

श्री कृष्णार्जुनसंवादे भोक्तृसंन्यासयोगो

नामाष्टादशोऽध्यायः ॥

॥ इति ॥



अपि व्यास देव की कृपा हुई अति गूढ़ योग में सुन गया :
 यह स्वयं कृष्ण ने कहा अभी जिसको सुनकर मैं हराया ॥७४॥
 जब जब मैं याद करूँ इसको आनन्द मुझे तब आता है ।
 कृष्णार्जुन का संवाद अजब यह सुन्य की बहुत सुझाता है ॥७५॥
 साधन का अद्भुत रूप अभी हे राजन् ! मन में लाता हूँ ।
 मैं बार बार आनन्दित हो विस्मित होकर रह जाता हूँ ॥७६॥

शेष—जहाँ कृष्ण योगेश्वर, और यदुर्ध्वर पास ।

विजय नीति, जी भी, वहाँ, बैसन करे निवास ॥७७॥

मोक्ष—सन्ध्या—योग नाम का
 आठारवाँ अध्याय समाप्त ॥

॥ इति ॥



गीता के मुख्य उद्देश

(१)

आत्मा का अमरत्व

मरे नहीं आत्मा, अमर भी अजर है यह,
शस्त्र नहीं काटते, न आग ही जलावे है ।
पानी में न भीनी होवे, हवा न सुखाय इसे,
नाश अविनाशी का न कोई कर पावे है
कहे जो यह मरती है, मारती है दूसरे को,
मूर्ख मति-हीन नर जग में कहावे है
धर्म हेतु धीर तुम युद्ध निष्काम करो,
स्वार्थ हीन कर्म ही तो मोक्ष को दिखावे है

(२)

मृत्यु का लक्षण

जैसे तन मीढ़ि बालपन व अशानी आवे,
अन्त में जुदावा कस्मि चिच न दुलाते है
इसी मीढ़ि कम से शरीर भी बदल आवे,
धीर मतिमान या सौ नेह न लगाते है
जीर्ण वस्त्र त्याग नर नित्य ही बदलते हैं,
पहर नये वस्त्र निज तन को सजाते है
होते है प्रसन्न वस इसी तरह धीर जन,
त्यागने में तन तनिक शोक न मनाते है

(३)

श्रेष्ठ पुरुषों का अनुकरण

कर्म जो करेंगे महा पुरुष शशिद्वज्जन,
 सोम उसी कर्म को सदा ही अपनावेंगे ।
 नियम अटल संसार में दिखाई देवे,
 मान लेंगे सोम जो प्रमाण वह बतायेंगे ।
 उचित इसी से श्रेष्ठ नरों को पत्नी है सदा,
 अपने कर्म फुंक फुंक के जमावेंगे ।
 एक भी अशुद्ध कर्म भूल से करेंगे यदि,
 विश्व में खराबी होवे, सोम या जावेंगे ॥

(४)

कर्म करने में जीव स्वतन्त्र है

कर्म में स्वतन्त्र सदा जीव है प्रभु ने किये,
 भोग में फलों के पर होते पराधीन है ।
 कारण बनो न माई कर्म के फलों का तुम,
 त्याग फल कर्म करें वही तो प्रवीण है ।
 मूर्ख कर्म-हीनता को मोद को उपाय करें,
 कभी भी पुरुष नहीं होते कर्म हीन है ।
 हानि और लाभ, जीव हार को समान जाये,
 पोषी है प्रसन्न, पाहे सभी है या हीन है ॥

(४)

विषयों में कायस्थि से सर्वनाश

ज्ञान विषयों का कर सब ही उपजता है,
 काम से हो काम, काम क्रोध को बढ़ाता है ।
 क्रोध से हो मोह, मोह पाद को ही नष्ट करे,
 पाद सोप नर मति हीनता को जाता है ।
 बुद्धि हीन नर निरस्य भाग्य की ही ओर बहे,
 कायस्थ न चाप सर्वत्र वह मंथता है ।
 दूर विषयों से रहे, काम बरु, क्रोध सजे,
 ऐसा ही दुःख परम शान्ति को जाता है ॥

(५)

शान्ति का उपाय

पूर्ण सम्मीर तथा कथल प्रतिष्ठा वाले,
 जैसे महा समर में बर्षा सखाती हैं ।
 किन्ती ही असंख्य धारावाही सरितायें मिलें,
 तनिक भी सहृद को न स्थान से हटाती हैं ।
 ऐसे ही निरान्त कामनायें जिसमें नष्ट होवें,
 ऐसे योगी राज को वह कभी न सखाती हैं ।
 कामनार्थ पूरी कभी किन्ती की न होती कहीं,
 जैसे नहीं चैन हृद के को पचनाती हैं ॥

(क)

शान्त चित्त वाले की पहिचान

कामना को त्यागने, अपने आप में सन्तुष्ट रहे,
 बह में दुखी न दुर्ब सुख में मनास है ।
 भय, मय, क्रोध त्याग सब को समझ आने,
 कर्म सब इन्द्रियों को बश में ले आता है ।
 मोह ब्रह्मकार त्यागने विषयों से दूर रहे,
 ध्यान में प्रभु के निज चित्त को लगाता है ।
 पाप द्वेष हीन यही कर्म निष्पन्न करे,
 मोक्ष पाप शीघ्र निज बन्धन दृष्टाता है ॥

(ख)

सात्त्विक कर्म व सात्त्विक दान

बाप्य भुक्तुक्त होके, यह न करे भोगे किया,
 स्वार्थ हीन कर्म ही तो सात्त्विक कहाता है ।
 मोह की न मायना हो, चित्त न अन्विष्ट न हो,
 देना शुभ कर्म मान व्यक्त में पाता है ।
 दान के लिये ही दान करे जो यदातुयाव,
 स्वान की ओ मायना को चित्तमें न लाता है ।
 देश, काल, पात्र देस दान को महान करे,
 दान बड़ी भेद है व मोक्ष को दिसाता है ।

(६)

कर्म योग

जैसा कोई बोधे नर वैसा ही तो काटवा है,
 जग में प्रसिद्ध यह प्रसिद्ध कवितार्ह है ।
 कर्म जैसा करे कोई वैसे फल पायगा ही,
 अटल नियम, नहि इस में दिहाई है ।
 टांही कोई रह न सके कर्म तो करेगा सदा,
 अतः कर्म-बन्धन से शेष न सुदाई है ।
 एक ही उपाय इस बन्धन से छूटने का,
 कर्म निष्काम करो, इसी में भलाई है ॥

(१०)

महा पुरुषों का आगमन

धर्म का हो नाश प्रादि २ बहुत और बने,
 राज करे दुष्ट व सुजन मार खाते हैं ।
 काँच शिरोधार्य अरु काञ्चन पयों में लोटे,
 देश के उद्धार हेतु देव —राज आते हैं ।
 साधुन को रखा देव दुष्ट का दलन करें,
 धर्म बेल सींच २ मूल को जमाते हैं ।
 युग युग बीते देखा देश की कुरा से यदा,
 उचम पुरुष "जान" कष्ट को मिटाते हैं ॥

मुषोष (शिला का नाम) । मनु=मनुष । कपिलवन्=मनुज, विश्व के मंडे पर कन्दर का विश्व का । मनु-सूदन=वीरुष्य (इन्दोने मनु नाम के राजा को कहा का) ।

पृष्ठ ६—

आचार्य=आचार्य, श्रोत्राचार्य । मंडोप=मनुज के मनुष का नाम । सुदी=बुद्धि । नदि=नदी ।

पृष्ठ ११—

समस्तन वर्म=हमारे पूर्वजों की संस्कृति, सम्पत्ता तथा मनुष्यों के वर्तमान वर्म ।

पृष्ठ १३—

म. व. द. व. = म. व. द. व. ।

दूसरा अध्याय

पृष्ठ १४—

विश्व=विश्व । अविश्व=अविश्व, अविश्व ।

पृष्ठ १५—

हन्त्रिणां संयोग=हिनका संयोग आत्मा, मन, नाक आदि हन्त्रियों से हो । कर्ममग्नुर=शरीर नष्ट होने वाले । निम्नकारहता है = जो मनु संसार में नहीं है, वह पैदा नहीं हो सकती और जो कुछ जगत् में विद्यमान है, वह कभी नष्ट नहीं

होता । मनुष्य के मरने पर शरीर भस्म होकर ब्रह्म रूप बदल जाता है और आत्मा तो नष्ट होती ही नहीं । अतः दोनों वस्तुएं बराबर रहती हैं । कल्प=लौकिक । अकल्प (अकाल्प)=
लौकिक नहीं है । अकल्पय=न कल्प देने वाला । यदि देव कोई अवि-
नाशी है=देव नाशवान है अर्थात् जिस कल में है कदा कल
रूप में नहीं रह सकती ।

पृष्ठ २१—

देही=ब्रह्मा । अवगच्छ=दिखाई न देने का भाव ।

पृष्ठ २३—

निर्भीक=निहत् । अपवश=अवनाशी । अकल्प=अकाल्प ।
अस मान=ऐसे मान कर । ज्ञान योग=शरीर कायकान है, आत्मा
कामर है । ईश्वर इन दोनों का संयोग व वियोग करने वाला
स्वामी है, जिसमान वस्तु नष्ट नहीं होती और जो है ही नहीं
वह वैश नहीं हो सकती यदि ज्ञान की बात ही ज्ञान योग है ।
इसको बुद्धियोग या सांख्य योग भी कहते हैं जो ज्ञान योग
को नहीं भाँति समझते हैं उनके लिए सुख दुःख, काम क्रम,
कीर्ति इतर सब समान हैं, वह कर्तव्य कर्म को करते हुए कभी
पाप के भावी नहीं होते । कर्म योग=कर्म के फल का त्याग
करना ही योग अथवा कर्म योग है । फल की इच्छा को त्याग
कर अथवा किसी कर्म के सुखदायक अथवा सुखदायक परिणाम
को समान समझ कर कर्तव्य कर्म का करना ही कर्म योग है ।
अर्थात् नेही करो और दूरवा में काम हो । कर्मयोग=कर्म बन्धन

कल की दृष्टि से स्वीकृत किये गये स्वार्थ सिद्धि के कर्म मनुष्य की जन्मन में डालते हैं । अर्थात् वह कारन्तर संसार में जन्म होता है और मुक्त नहीं होता ।

पृष्ठ २४ —

कुल-एक-कुल यथा का कुल अर्जुन । यदुत्तम-विदित
मम अपने वश में नहीं है, कल का चित्त चञ्चलमान होकर कई दिशाओं में जाता है, वह एकमचिन्त नहीं हो सकता । वेद वेद चिन्ताते हैं—वेद वादी वे मनुष्य होते हैं, जो वेद के ज्ञान की खोज कर केवल कल की कामना से वेद वर्णित पदों को करते हैं, अनिश्चित कल पुरुषों से हैं जो सत्काम कर्म करते हैं तथा परावश-स्वार्थ सिद्धि की दृष्टि करने वाले ।

विषय-सत्यम् । तीक्ष्ण शृणु-सत्य, कल, लभ (१४ वें अध्याय में इनका विस्तारपूर्वक वर्णन है) । संग-आसक्ति, चिन्तना । कल वस्तु-परमात्मा । आत्मज्ञान-अपने को जानने का, अपनी काम्यों का देखने का । सुविद्या-बुद्धि । ज्ञानात्म-ज्ञान । समता-कुल कुल में समान रहना । मन्त्र-वेदों को जानने का । मन्त्रानन्द-परमात्मा में निश्चिन्तने का आनन्द ।

पृष्ठ २५—

सुनने से-विषय २ आते सुनने से । समाधि-एकमचिन्त होकर प्रभु के ध्यान में लगना । तिष्ठतम-विशुद्ध चित्त का

बोल नहीं है ।

पृष्ठ २६—

विच्छा=देवैय, राग=आसक्ति होना, मोह । विदि=बैठे ।
तिमि=वैसे ही । कशी=चित्त को बरा में रखने का ।

पृष्ठ ३१—

महाबाहू=कम्भी मुखार्षी वाला मनुष्य । सप्त प्रणी-----
कर्म में । साधारण मनुष्य देर से सोते हैं और देर से जागते हैं
परन्तु कानी लोग शीघ्र सो जाते हैं परन्तु आभी रात को बड़ कर
जाग्न करते हैं ।

तीसरा अध्याय

पृष्ठ ३३—

बन्धन=आवायसन ।

पृष्ठ ३५—

यज्ञ=कोक हित वा परोपकार के काम । यज्ञों से देव-----
हम को=यज्ञ करने से देवता प्रसन्न होकर और वे तुम्हारी सहा-
यता करेंगे । इक्ष्ण से कलुषघटन शुद्ध होता है और शुद्ध वायु
मनुष्यों के किये लाभदायक है, यज्ञ पांच प्रकार के हैं, देव यज्ञ
(इक्ष्ण), बलि वैश्व देव यज्ञ (पशु पक्षियों को भोजन देना),
अतिथि यज्ञ=अतिथि सत्कार, पितृ यज्ञ=माता पिता का सत्कार ।

पृष्ठ ३७—

आत्मा से प्रेम—अपने आप से प्रेम । निर्द्वन्द्व—द्वन्द्विक न होना, मोड़ रहित । निष्काम कर्म—कर्म की इच्छा बिना किया गया कर्म । निष्कल—निकम्मे । परब्रह्म द्विष्ट—परोक्षर के लिये ।

पृष्ठ ३८—

शुद्ध बसते—-----—हैं । जिस प्रकार आश्रित से स्वायत्त होते हैं पर उस ओर हमारा ध्यान नहीं जाता, वही प्रकार मनुष्य अनासक्त होकर निष्काम कर्म करे । अन्धकार विघ्न—शुभ कर्मों द्वारा आत्मा को डँचा रहाने वाला । प्रकृति—प्रकृति स्वभाव । निषेध—रोकना (वर से विषय को हटा कर वैभक्त ऊपर से सबदेखी रोकना) ।

पृष्ठ ४१—

धर्म—कर्तव्य । “अन्य जनों—जीव” का भाव । अपने स्वभाव तथा सामर्थ्य के अनुसार कर्म करना चाहिये न कि दूसरों की आज्ञानुसार नकल करना; वीर्य पला इंस की आज्ञा अपनी भी भूल गया ।

पृष्ठ ४३—

सूक्ष्म—पारीक । सूक्ष्मजन—बहुत ही पारीक । काम बलिदान—इच्छाओं का त्याग ।



चौथा अध्याय

श्लोक ४३ —

विममनः—सूर्य, एक महापुरुष का नाम । वस्तुति—समाप्त ।

श्लोक ४४ —

कर्म=कर्म, काम, दान, चोरी न करना, स्वयंसेवा, इन्द्रियों को बरा में करना, दुःख, क्रोध, मत्सर आदि, क्रोध न करना कर्म के लक्षण हैं । तत्त्व=मेद । ममता=ममता है । मार्ग=रास्सा, उपदेश । देवी=साक्षात्पथ साक्षियों अर्थात् भाग, पानी, आदि । सम्यक्तोच=संसार । निष्कर्षा=कर्म न करने बाधा, श्री कृष्ण सब कर्म परीक्षण के लिए करते थे अतः यह कर्म के बन्धन से परे थे ।

श्लोक ४५ —

परशम=शक्ति । अकर्म=कर्म न करना । निष्कर्म=दुरे कर्म । दुर्बोधि=शक्ति । मर्म=मेद । कर कर्म=कर्म मनुष्य शुभ कर्म को करने भी चाहकर न करे और जो अपने दुरे कर्म हो उन्हें स्वीकार करे कि जैसे किये हैं । इन्द्र=इन्द्र, शत्रु, दुष्ट, नील, दार, सूर्य, गर्मी आदि । परहित=दुष्ट के लिए । अज्ञानता=अज्ञानी अर्थ । इन्द्र=शक्ति ।

श्लोक ४६ —

इन्द्र को ----- स्वीकर्म=इन्द्रियों को बरा में रखते हैं । दान, कर्म=दान, कर्म, दान, दान, दान, दान आदि विषयों का

चौथा अध्याय

पृष्ठ ४५ —

मिश्रवन्=सूत, एक महापुरुष का नाम । वक्रलि=स्वभाव ।

पृष्ठ ४७ —

धर्म=धैर्य, दया, दमन, धोरी न करना, स्वयच्छता, इन्द्रियों को बरा में करना, दुःख, ज्ञान, सत्य आदि, कोष न करना धर्म के लक्षण हैं । तत्त्व=मेद । मज्जता=पछा देता हूँ । मार्ग=राजमन, उपदेश । देवों=सामर्थ्यायक शक्तियों अर्थात् आग, पानी, भाप आदि । मत्स्यलोका=संसार । निष्कर्ता=कृद् न करने वाला, भी कृन्तु सब कार्य करोपकार के लिए करते ये अतः वह धर्म के बन्धन से परे थे ।

पृष्ठ ४८ —

परधाम=दुःख । अधर्म=धर्म न करना । निष्कर्म=बुरे कर्म । दुर्बोध=कठिन । धर्म=मेद । कर कर्म=कहे मतुल्य दाय कर्म को करके भी कईकर न करे और जो अपने बुरे कर्म हो उन्हें लोकार कर कि मैंने किये हैं । इन्द्र=इन्द्र, शत्रु, सुख, दुःख, जीव, शत्रु, सन्धि, यक्षी आदि । परहित=दूरे के लिए । मज्जान्त=मज्ज लपी अग्नि । इन्द्र=आर्द्रित ।

पृष्ठ ४९ —

इन्द्रिन को ----- जीव करें=इन्द्रियों को बरा में रखते हैं । शत्रु, कर्ष=शत्रु, कर्ष, रक्ष, रक्ष, गन्ध, गन्ध आदि विषयों का

इन्द्रियों द्वारा योग करते हुए भी अनासक्ति द्वारा इनके कल से मुक्त हो जाते हैं । अन्व २७ का भाव = कुछ योग ज्ञान के द्वारा अपने कर्मों और आस प्रसास की क्रिया को भरा में करके योग बन जाते हैं । अचन = जो वायु सांस द्वारा बाहर निकालते हैं । कचकट करे = रोनें । यज्ञ योग = यज्ञ से बन्ध हुआ ।

पृष्ठ ५३ —

आत्मज्ञानी, आत्म ज्ञानी = अपने आत्मा को पहचानने वाला ।

— — — — —

पाँचवाँ अध्याय

पृष्ठ ५४ —

कर्म सत्यास = कर्म का त्याग, ज्ञान योग, सांख्य योग, बुद्धि योग, हानि, काम, मुक्त हुआ में एक सम्मान रहता । कर्म योग = योग, कर्म करना पर कलके कल की इच्छा न करना, निष्काम कर्म । मनन = विचार ।

पृष्ठ ५७ —

तब कर्म..... जाता है = जो कर्मों के कल का त्याग करने के स्थान में कर्म करना की छोड़ देता है कर्मों निष्काम बैठ जाता है वह हुआ जाता है । कही = कर्मों । असक्त = चमटे नहीं मोड़ नहीं करे । पंचक दस = कर्म का पचा । मन..... ध्याकर = कर्म कल की इच्छा को त्याग कर । नव द्वार बंधी नगरी = नव शरीर जिसमें नाक जल आदि ५ द्वार हैं । इन्द्रिय-

जिन=तृतीयी । अमु मयम्-----कोई = परमात्मा मनुष्य के कर्मों का उत्तरदायी नहीं है ।

पृष्ठ ५६—

मदय=महा, परमात्मन् । अदय=ज नष्ट होने वाला । स्थिर
मति=जिसका चित्त निश्चल रहता है अर्थात् बाधां डोह नहीं
होता । परं मय=तुम्हें ।

पृष्ठ ६१—

वली=तृतीयी । अथ मयम्-----कथं=वाक्यान्वय करना ।
सुहृद्=भ्रातृ । मेव=तुम्हें । भोक्त=कामे वाला । सोमेत=अमृत
का स्वामी । तव=तेरे ।

छठा अध्याय

पृष्ठ ६३—

आश्रय=आश्रय, सहारा । सन्पाद=कर्मों का त्याग ।
योग=कर्मों के फल का त्याग । योगसूद भवे=योग की समाधि
में लग कर । आत्मा को-----जे जाने=अन्तर्मुख द्वारा
कर्म फलों का त्याग करके फिर आन्तर्मुख द्वारा पुनः
बन्धन में न पड़ते । छन्द ६=आत्म निरीक्षण या आत्म चिन्तन
द्वारा मनुष्य अपने आपको ऊपर उठाता है परन्तु जो अपनी
ओर नहीं देखता वह नीचे गिर जाता है ।

पृष्ठ ६४—

को रूप—.....से=दिसाओ कर्म विद्वान्त का पूरा पूरा अनुभव है। आसुर रक्षित=रक्ष का त्यागी। कुरासन=कुरातनाम की वास पर बना हुआ आसन। ईन्द्रिय दम=ईन्द्रियों को कर्त में करना। स्वप्न रीति=सोने का। जगत्सं=जगत्संश्राने का। कपलम=गुल, कुट आका है।

पृष्ठ ६७—

चरान=निश्चय। संकल्प क्षिति=इच्छाओं से पैदा हुए, सङ्काम कर्म।

पृष्ठ ६९—

रजदीन=दुरी भावनाओं से मुक्त। समदर्शी=सबको परस्पर जानने वाले, पक्षपात रहित। सर्व भूत-निवृत्त=सब मनुष्यों के अन्दर रमा हुआ। अपनी कर्मा से=अपनी तरह से। सान्ध योग=सब को समान देखना। वैराग्य=बनासक्ति, कर्म करते हुये भी सब से अलग रहना अर्थात् पक्ष की ओर व्याप्त न होना।

पृष्ठ ७१—

शब्द ४४—पूर्व संस्कारों से वह सर्व ही योग की ओर बढ़ता है और इस प्रकार योग की इच्छा काळा पुरुष भी शब्द ज्ञान (वेद) से बड़े हुये सङ्काम कर्म को धार कर लेता है (परम गती=परम गति, मोक्ष)।

सातवीं अध्याय

पृष्ठ ७४—

विज्ञान=विशेष ज्ञान, रहस्य, अनुभव । अस्य प्रकृति=इसके
आठ अङ्ग ऊपर बड़े हैं अर्थात् दृष्टी, अन्न तेज, वायु, आकाश,
मन, बुद्धि, अहंकार । परा=जीव रूप प्रकृति । इन्द्र ६ का भाव=
मनुष्य जीव और प्रकृति के संयोग से बनता है ।

पृष्ठ ७५—

अपरा=अहंकार । अग्नी=अग्नि, आश । तीन गुणमय
भाव=सार्वभूत (वस्तु), राजसी (मध्यम) और तामसी (नीच)
विचार । अहम्=न समझ में आने वाली । भव=संचार ।

पृष्ठ ७६—

आतुरी=राक्षसी, नीच । विज्ञातु=ज्ञान की इच्छा रखने वाले
अर्थात्=यन की इच्छा वाले । कीदृश=दुखी । कथमस्ति मे ही
हूँ=बहु अज्ञान में मुझमें आन समाता है । वासुदेव मय=परमात्मा
से व्यक्त ।

पृष्ठ ८१—

अव्यक्त=अप्रकट, अदृश्य । अव्यय=न लह होने वाला ।
स्पृष्ट=चास । अज=जन्म न लेने वाला । इन्द्र=मुख, दुःख, क्षान्ति
क्षाम आदि । इह मती=पक्का मत (संकल्प) रखने वाले ।
मरा=बुढ़ापा । अप्रकृत्य=अभाव । अविभूत=प्रकृति । अविदैव=
जीवात्मा । अविमल=परमात्मा, ईश्वर, ब्रह्मा ।

आठवाँ अध्याय

पृष्ठ ८३—

माघ=श्रीकृष्ण । जन्म ६४ माघ-दिन विषाखीमें मग्न हुआ मनुष्य शरीर त्याग करता है वह बड़ी विचार अर्थात् संसार, होकर जगत में पुनः जाता है ।

पृष्ठ ८४—

अनादी=अनादि, जिसका आरम्भ नहीं है । विधाता=सामी । राँव-सम=मूर्ख के समान लेखायी । अविषय=जिसकी मर्दिमा खतर है ।

पृष्ठ ८५—

पञ्चावधि=विषम मन । जन्म १७ का माघ=जिस प्रकार दिन के परचान् रात और रात के परचान् दिन होता है इसी प्रकार सृष्टि के पञ्चात् प्रलय और प्रलय के पश्चात् सृष्टि होती है, और यह प्रलय और सृष्टि बहुत दीर्घ काल तक रहती है "सृष्टि" जगत का दिन है और "प्रलय" "रात" कहलाती है । अमलक=अमल । शूत सङ्ग्रहाय=मनुष्यों का समूह । अन्य माघ=परमात्मा, अक्षर ।

पृष्ठ ८६—

जन्म २४, २५, २६ का कार=जो मनुष्य पणम विषम खाँ करते हुए शरीर त्यागते हैं वह सृष्टि को पते हैं और ऐसे जन आवागमन के चक्र में पड़े रहते हैं ।

नवा अध्याय

पृष्ठ ६१—

शब्द ४, ५ का भाव— परमात्मा कलत्र में व्याप्त होने से सब प्राणियों में समाया हुआ है परन्तु उनके कर्मों का कारणवादी न होने के कारण उन से अलग भी है, जो उनके भाव है, उनमें वह अन्तर है।

पृष्ठ ६३—

कलत्र=ऊपर कहा हुआ एक शक्ति कात्र । तिर्य पराचर= चलने वाले और न चलने वाले पदार्थों से युक्त संसार
पृष्ठ ६४—

ज्ञान पद=ज्ञान योग । गति=जाने योग्य अर्थ । निवान= मलय के समान बहुत जितने समा करते हैं । मैं अमृत.....
सदा=इसमें कर्म करने वालों के लिये मैं भला हूँ परन्तु दुष्टों के लिये नीत के बराबर हूँ । सग और असग=ईश्वर व्यापक होने से "सग" है और तटि गोचर न होने से असग है । त्रैविष्ट= तीन वेद के ज्ञाता । सोमपा=सोम नाम का रस पीने वाले । अन्न=पद । सुर लोक=स्वर्ग ।

पृष्ठ ६७—

तप्य=रहस्य, सार । पितर=पूर्वज ।

पृष्ठ ६६—

यदि कोई-----तुझे=यदि कोई दुष्ट होकर भी सच्चे

मन से परमात्मा का भजन करता है। शोकस्थ=विचार। मम
धाम=मेरा घर अर्थात् मुक्ति।



दसवां अध्याय

पृष्ठ १०१—

आदि भू=इस मनुष्य। अजन्मा आदि रहित=
जिसका प्रारम्भ न हो। मर्त्यो=मनुष्यों। शम=शान्ति। सत
महा अपि=सप्तपि। चार पुरु=चमक आदि चार पूर्ण पुरुष।
मनुषी सन्ताने=स्वार्थमुक्त आदि १४ मनु।

पृष्ठ १०२—

देवर्षी=देवर्षि। देवता, व्यास, अश्विष्ठ=यह नाम है। दानव=
राक्षस।

पृष्ठ १०४—

विष्य विमृति=देवताओं वाली सम्पत्ति। इन्द्र १८ 'सिरी'.....
न हो। हे कृष्ण ! मैं सदा तुम्हारी वाणी सुनता ही रहूँ। तुम्हारे
केस=वीर को जीतने वाला, अर्जुन। वासव=इन्द्र।

पृष्ठ १०७—

प्रियर्षो=गुरुओं। कुरुक्षेत्र=कुरुक्षेत्र (नाम)। भृगु=भृगु
(नाम)। विजने कलौ मैं=अवन, पक्ष, बड़ा आदि में जो राम
हैं सो मैं हूँ।

पृष्ठ १०६—

वक्त्रं मे=बोझने में । कुतुहल=रहस्य । राहू=बाधो
स्मृती=स्मृति । कुम्भोद्भूत=पादव बंश । अशुना=एक कवि का नाम



म्यारहवां अध्याय

पृष्ठ ११३—

महात्म्य=बड़ाई । अशुना=अशुना=अशुना ।

पृष्ठ ११४—

शुक्रकेश=अशुन । अशुना=अशुन । आभ=अभक्त मनु-
सुन=अभक्त । अशुना=अशुना । अशुना=अशुना ।

पृष्ठ ११७—

पेशू=पेशू । आदी=आदि । अशुना=अशुना । अशुना=अशुना ।
अशुना=अशुना । अशुना=अशुना । अशुना=अशुना ।
अशुना=अशुना । अशुना=अशुना । अशुना=अशुना ।

पृष्ठ ११८—

अशुना=अशुना । अशुना=अशुना । अशुना=अशुना ।
अशुना=अशुना । अशुना=अशुना । अशुना=अशुना ।

पृष्ठ १२१—

अशुना=अशुना । अशुना=अशुना । अशुना=अशुना ।

पृष्ठ १२३—

विहट=भयंकर । मोरा=मोह, मोर ।

पृष्ठ १२४—

हृषीकेरा=भी क्रुद्ध । प्रभू=प्रभु । अपाधर=न गह होने वाला ।

पृष्ठ १२५—

साहाय्य नमस्ते=सांठों काजों से प्रणाम करना । लल=देख

पृष्ठ १२६—

भोर=भयंकर । लज=होश दे । जललोह=देख । बेरहो=बेद के जलने वाली ।

पृष्ठ १२७—

संघ=समासिक ।

सारहर्षा अध्याय

पृष्ठ १३३—

गली=गति, ग्राह ।

पृष्ठ १३४—

परायण=ज्ञाने हुए । जनश्रव=जड़ों में । सिद्धी=सिद्धि ।
चहोय=हृष्य । चहोयका=कोष ।

पृष्ठ १३५—

जहाली=जनाहक । पावन=पवित्र । विषयासक्ती=विषयों

में आवृत्त । कहे= मातृ करे । मानस=मन की संज्ञा, अङ्गुलि ।

— ॥॥॥ —

तीरद्वीप अध्याय

पृष्ठ १४१—

महता=महोत्सव, समारोह । पञ्चभूत=पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश । पञ्च विषय=राज्य, स्वर्ग, कन, रत्न, मन्त्र । जल गद्य—
रहता=यथासम्भव पद्यन्त लेखन करना ।

पृष्ठ १४३—

गतिमान्=कलमेवाद्या । परम पुत्र=परमात्मन् । अदुर्गत=
अपेक्ष, असाह ।

पृष्ठ १४४—

अदुर्गत=असाह । अदुर्गत=असाह । अदुर्गत=असाह ।

— ॥॥॥ —

चौदहवां अध्याय

पृष्ठ १४५—

प्रमादी=असाधमान । कर्म योगि=कर्मयोग । कर्म योगि में
[प्रमादी=असाधमान लेखन चिह्न कर्म करता है ।

973

देह जन्म=देह से जन्म लेने । प्रभू=प्रभु । आचार=व्यवहार । को मोह=को भ्रम हो=को भ्रम प्रकट हो चेतना व मोह को जाने पर सुखी नहीं होता, परन्तु यदि नहीं जाता तो इसकी इच्छा नहीं करता, यन्त्रगुण से प्रकट होता है, रजोगुण से चेष्टा होती है और तमोगुण से मोह होता है ।

93 114

अरि=शत्रु । आश्रयत=निवसत, स्थिर । गुरुशरीर कीनीं
गुरुरो से गुरु । सार=निबोध । दुर्ज्ञेय=न प्राप्त होने वाला ।

पञ्चदश अध्यायः

72 72-

निमग्न रहे=मग्न रहे । धाम=मोक्ष का स्थान । पुरातन=पुराना । प्रकृतिस्य=संसार चक्र में पड़ी हुई ।

शब्द = का भाव—ईश्वर से अभिन्नत्व यह ईश्वर का अंश रूप आत्मा का जीव है। जब यह तन पारण करता है या त्याग करता है तो मन के साथ इन्द्रियों को भी इस प्रकार ले जाता है जैसे नवन कृष को साथ ले जाती है। प्रचरद=तीरण।

四四一—

भूतल—दृश्यो । भूतो—अनुभूयो । पोष्य—पुत्रता, अठरा-
निज—पैट की आनिज । शय्यारान्त—शय्य अर्थात्, सोख द्वारा सम्पूर्ण

जाने वाली बांधु "प्राण" कहलाती है और काहर जाने वाली "अपान" कही जाती है । चारों अङ्ग=छाने योग्य, निगलने योग्य, चाटने योग्य और चूसने योग्य । अपोहन=विचार द्वारा संशय मिटाने की क्रिया । अन्तर्यामी=आत्मा । अनप=नाप रहित । कृत कृत्य=कृतार्थ, अपने काम में सफल ।

सोहृद्वां अध्याय

पृष्ठ १६६—

आध्याय—उक्त पुस्तकी का पढ़ना । सुसंरक्षित=नेहतापों के गुण । असुर-सम्पदा=राक्षसों के गुण । असुरी=राक्षसी ।

पृष्ठ १६७—

ईश्वर रहित=ईश्वर हीन, ईश्वर के बिना बना है । मति-मन्द=छोटी मति वाली । दम्भ=तकाड़ । पर=परती, मुक्त=क्रिये द्वारा, रहित ।

पृष्ठ १६८—

द्वय—धमरुद । अक्षयी=अथापन्न, सब में रसा हुआ । तम=अन्धकार, अज्ञान ।



सत्तरहवीं अध्याय

पृष्ठ १६६

कृति=कृत्य । साधन=सत्त्व । निराकार=रूपरहित, रंग=
साधक । जो किया जाय—रहता=नीहृदयकी इंद्र की
ओर से कहते हैं ।

पृष्ठ १७१—

वीथिक=पुष्पिण्यारक, बलबर्धक, हृदि=हृदि, परिग्रहा ।

पृष्ठ १७३—

मीन=पुष्प । तरी=तन्त्री । पत्र=पुष्प । पर=मम ।
निर्माण हुआ=कर्म । निर्णय से=निर्णयपूर्वक ।

अठारहवीं अध्याय

पृष्ठ १७७—

इच्छित कर्म=जो कर्तव्य को न देखकर केवल स्वार्थ या
इच्छा से किया जाय । विस्तार सहित=सोचकर । तीन तरह का=
स्वयं तीन तरह का होता है । संन=रंग, आचरित । सम्पत्ति=
सत्त्व ।

पृष्ठ १७९—

सुख दुःख कर्म=जो सुख कर्म की दुःखदायक प्रतीत होता
है अर्थात् जिसके करने में कठिनाई हो ।

दुःखद=दुःख देने वाले अच्छे कर्म । सुखद=सुखदायक
 दुःरे कर्म । अशुभ=शुभ । मित्र=गुरु और अशुभ । महाकाह=
 सभी भुवाओंवाला अशुभ । पांच कर्मस्थ=(१) कर्ता, (२) आचार,
 ३ विविध साधन, ४ विविध क्रियाएँ, ५ प्रत्यक्ष अर्थों १ कर्म के
 करने वाला, २ स्थान, ३ जिसके द्वारा किया की जाने, ४ किया
 ५ भाग्य ।

पृष्ठ १८१-

निर्लेख मति बाध=क्यों में आसक्त न होने का भाव । क्षेत्र=ज्ञानने
 योग्य वस्तु । ज्ञान=विद्येके द्वारा कुछ ज्ञान प्राप्त । ज्ञाता=ज्ञानने
 वाला । कर्ता=कर्म के करने वाला, करण=कर्म करने के साधन ।
 क्रिया=कर्म । द्वैत भाव=अद्वैतता का भाव ।

पृष्ठ १८३-

वृत्ति=शरणा । अवृत्ति=पुनरावृत्ति, निष्काम कर्म करने में
 रुचि होना । निवृत्ति=कर्म करने की से दूर रहना, सम्प्राप्त ।
 भयाभय=डरना और न डरना ।

पृष्ठ १८५ -

सुखि प्रसाद जगित=मन की वसन्तता से प्राप्त हो ।
 आनितकता=परमात्म्य में निरतता । वृत्ति=वैद्य, साधक ।

पृष्ठ १८७-

पर कर्म=दुसरे के करने योग्य काम । विमुक्त=मुक्त रहित ।
 जो कर्म ... तजे=अपना कर्तव्य कर्म यदि मुक्तों पुरुष भी

जो तो भी मत छोड़ो । ज्ञान को पराधाऊ=हैना मान ।
 मद्य-----जाने=बढ़ ज्ञान को न जाता दे । अमर पद=न खींचा
 होने वाली मद्य, लुब्ध ।

पृष्ठ १८६—

अन्व २६ का भाव=यदि तू मेरी शिक्षा मान कर कुछ नहीं
 करेगा तो भी तेरी शक्ति तुम से बढ़ जाय अवरण करानेगी ।
 क्योंकि अनुपम अपने स्वभाव के लक्ष्य । है जो तेरी न कहने
 की प्रतिज्ञा झूठी हो जायगी । मनन करो=विचार करो ।
 गृह=गृह, गहरा । अविषय=विरह, दृढ़ ।

पृष्ठ १८७—

धर्म संवाद=धर्म एक बात थी । शैलाब्ध=शुद्धि, सत्य ।
 इरवाया=मन्त्र, धर्म । विस्मृत=हैतान । अमय=जीत
 नीति=धर्म, कुर्यात्, विपुलता । श्री=सम्पत्ति, लक्ष्मी ।
 ईश्वर=बन सति यश ।



गीता के मुख्य उपदेश

पृष्ठ १६४—

अग्रर=न वृद्धी होने वाली । अति होना=बहुतेरा होना । हेतु=कारण
 कलि=देवता हर । जोर्य=बुझने । नेह=प्रेम । भीरु=बुद्धिमान ।

पृष्ठ १६५—

अनुकरय=पीछे चलना । अरुह=उपका, न रखने का भाव ।
 स्वतन्त्र=आजाद । प्रवीण=अभिरुह ।

पृष्ठ १६६—

सर्वथा=सब कुछ । अतिशय=अत्यन्त । अत्यन्त=अत्यन्त ही
 अत्यन्तही=अत्यन्त बड़ा काशी । अतिशय=अत्यन्त । अतिशय=अत्यन्त
 सर्वथा, पूर्ण रूप से । अत्यन्त=अत्यन्त । अत्यन्त=अत्यन्त
 होते ।

पृष्ठ १६७—

अर्थ=अर्थज्ञ । अर्थ=अर्थज्ञ । अर्थ=अर्थज्ञ । अर्थ=अर्थज्ञ ।
 अर्थ=अर्थज्ञ । अर्थ=अर्थज्ञ । अर्थ=अर्थज्ञ । अर्थ=अर्थज्ञ ।
 अर्थ=अर्थज्ञ । अर्थ=अर्थज्ञ । अर्थ=अर्थज्ञ । अर्थ=अर्थज्ञ ।

पृष्ठ १६८—

निश्चय=निश्चय ही इच्छा न करने हूँ । अदिशति=बचाओ
 दिशोवाच्य=दिशो पर रक्षना, आदर करना । अज्ञान=अज्ञान ।
 पणो=पैसे । अज्ञान=अज्ञान, अज्ञान । अज्ञान=अज्ञान । अज्ञान=अज्ञान ॥

शुद्धि पत्र

नोट—घाटको से क्रियेदन है कि पुस्तक पढ़ने से पहले निम्नलिखित शुद्धियां कर लें ।

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
[२]	११	समापत	समपित
[३]	३	[४]	[२]
[६]	४	धनुः	धनुः
[६]	१७	सागितित्व	सागितित्व
[७]	११	रागित	रागित
[८]	१४	यत्न	यत्न
[६]	१०	संस्थापना	संस्थापना
[१०]	२	सर्वव्यापक	सर्वव्यापक
[१०]	७	विश्रुतित्व	विश्रुतित्व
"	३	द्विष्येय	द्विष्येय
[११]	१	कम	कम
"	२	सर्वगत	सर्वगत
[१२]	१०	सर्वाथ	सर्वाथ
[१३]	३	मीमांसक	मीमांसक
"	८	दार्ष्टिक	दार्ष्टिक

१३	पंक्ति	अष्टादश	१४
[१३]	१०	तज्ज	तज्ज
[१४]	१२	पुनित वा	पुनितवी
[१५]	१४	दम	दम
[१६]	१५	मिसबरेजम	मिसबरेजम
२	३	दधमोऽम्बायः	इसके नीचे "अष्टु" ने
३			विचार रोग" की : बोझो
४	१६	बिराटा	बिराटा
५	२	संमतद्वयः	समितिसंज्ञः
६	१२	स एव हि	सर्व एव हि
७	१४	कुम्भद्वयः	कुम्भद्वयः
८	२०	अद्भुत	अद्भुत
९	२	बुद्धोदरः	बुद्धोदरः
१०	३	कारकद्वय	कारकद्वय
११	१२	द एतेऽवसमागतः	द एतेऽव समागतः
१२	२	वज्रा	वज्रा
१३	१६	वीरो	वीरो
१४	२	तज्जः १४ वा	तज्जः १४ वा
१५	१२	अष्टु" ने कथाय	इसे १३ की पंक्ति के पीछे
			बढ़ो ।
१६	१२	राजयोग्यवस्तु	"राजयोग्यवस्तु"
	३	वीरो	वीरो
१७	१२	अष्टु" ने वीरा	इसे १३ की पंक्ति
			के पीछे बढ़ो ।

पृष्ठ	पंक्ति	अनुच्छेद	शुद्ध
३	१३	८८।	१४ वीं पंक्ति में ॥२ के आगे रखो ।
१०	३	भोगा	भोगाः
११	३	नैऋत्य	नैऋत्य
१२	३	व्यवस्थिता वयम्	व्यवस्थिता वयम्
१३	१०	वत्सव	वत्सव
१४	११	मायमतामह	मायमतीक्ष्ण
१५	१६	योगशास्त्रे	योगशास्त्रे
१६	१७	कृष्णाङ्गुलसंवादे	कृष्णाङ्गुलसंवादे
१७	१	द्वितीयोऽध्यायः	इसके नीचे 'सांख्ययोग' और जोड़ो ।
१८	८	नैतत्त्वव्युपपद्यते	नैतत्त्वव्युपपद्यते
१९	१४	भैरव	भैरव
२०	७	आर्यो	आर्यो
२१	१	गरीया	गरीयो
२२	९	यज्ञा	यज्ञा
२३	६	संमूह	संमूह
२४	८	शिष्योऽहं	शिष्यस्तेऽहं
२५	१३	उद्यान	उद्यान
२६	१४	परतपः	परतप
२७	१६	न्यय	न्यय
२८	१४	न्ययस्या	न्ययस्या

पृष्ठ	पंक्ति	आशुत	छन्द
१८	२०	सूय	सूयः
१६	१७	कये	कये
२०	१४	सुसम	सुसम्
११	१३	नैव	नैव
३०	१०	परिह्राये	परिह्राये
३५	१८	अम्यम्यहीनि	अम्यम्यहीनि
३५	११	अम्यम्य	अम्यम्य
३५	१६	अम्यम्य	अम्यम्य
२१	८	गसने	गसने
३५	२०	अह्व	अह्व
२१	३५	कीर्ति	कीर्ति
३५	६	अकीर्ति	अकीर्ति
२४	१०	भोगे	भोगे
११	११	भोगे	भोगे
२६	२०	आत्मन्येवात्मनः	आत्मन्येवात्मनः
२७	१६	स्मिन्नमति	स्मिन्नमति
२८	१०	स्मिन्नमते	स्मिन्नमते
११	१३	सर्वाणि	सर्वाणि
११	१६	यैव	यैव
२०	१८	संवादेऽर्तुन	संवादे
२१	११	कये	कये

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३४	७	आवयतानेन	आवयतानेन
३६	१४	तन्निद्रताः	तन्निद्रताः
३७	१६	वर्मातुर्वन्तो	वर्मातुर्वन्तो
३८	६	विमूढात्मा	विमूढात्मा
३९	७	संमूढा	संमूढाः
४०	१३, १४	दोष	दोष
४४	१	चतुर्थोऽवस्थाः	इसके नीचे "ज्ञान कर्म संन्यास योग" और जोड़ो
४७	८	अच्छाःसि	अच्छोःसि
४८	८	बहवो	बहवो
४९	१६	पूर्व	पूर्व
४९	२	तत्ते	तत्ते
४९	६	योगी	योगी
४९	११	समद	संपद
५०	१४	जोकोऽस्य	जोकोऽस्य
५०	१५	यद्विधा	यद्विधा
५०	२०	वर्मासिद्ध	वर्मासिद्ध
५१	१४	आर्या	आर्यो
५२	१	सेवया	सेवया
५२	६	पुत्रिन	पुत्रिन
५२	८	ज्ञानीग्निः	ज्ञानीग्निः

पृष्ठ	वर्षिक	अक्षरानु	राशु
५२	१७	मात्मन	नात्मनः
५६	६	शन्निव	शन्निव
५७	१५	कनर्ये	कनार्ये
५८	३	व त्वयः	वराययः
५९	५	विनय	विनय
६०	६	रवराके	रवराके
६१	८	महाधि	महाधि
६२	१२	साम्य	साम्य
६३	१८	निर्वाण	निर्वाण
६४	३, ८, १०	माद्यमा, मद्यमा	मद्यः
६५	७	साम्य	साम्य
६६	११	इन्द्रिय	इन्द्रिय
६७	१८	मद्य	मद्य
६८	८	तव	तव
६९	११	वय	वय
७०	१०	मुच्य	मुच्य
७१	१७	मात्मनस्तु	मात्मनस्तु
७२	६	परं	परं
७३	१०	कदी	कदी
७४	१७	वरा	वरा
७५	७	पविः	पवि

सुख	पक्षि	आशुद्ध	शुद्ध
७७	देव	सुखानन्दन	सुखानन्दन
७८	२	वैद्य	वैद्य
७९	३	सन्देश	सन्देश
८०	४	विलिखनः	विलिखनः
८१	५	मे	मे
८२	६	कलाप	कलाप
८३	७	सुख	सुख
८४	८	परमव्ययम्	परमव्ययम्
८५	९	परितु	परितु
८६	१०	सुख	सुख
८७	११	सूतः	सूतः
८८	१२	सूतः	सूतः
८९	१३	सूतः	सूतः
९०	१४	सूतः	सूतः
९१	१५	सूतः	सूतः
९२	१६	सूतः	सूतः
९३	१७	सूतः	सूतः
९४	१८	सूतः	सूतः
९५	१९	सूतः	सूतः
९६	२०	सूतः	सूतः
९७	२१	सूतः	सूतः
९८	२२	सूतः	सूतः
९९	२३	सूतः	सूतः
१००	२४	सूतः	सूतः
१०१	२५	सूतः	सूतः
१०२	२६	सूतः	सूतः
१०३	२७	सूतः	सूतः
१०४	२८	सूतः	सूतः
१०५	२९	सूतः	सूतः
१०६	३०	सूतः	सूतः

पृष्ठ	पंक्ति	आद्य	शुद्ध
१०३	१३	भूत	भूतो
"	१६	हो	हो
१०६	१४	कर्म	कर्मः
"	५०	सुधासुतं	सुधासुतं
"	१४	देवसिन्धुं	देवसिन्धुं
१०७	६	स	से
"	१०	गच्छ	गच्छो
"	१८	संभाष	संभाष
"	१६	पञ्चरात्रम्	पञ्चरात्रम्
१०८	२०	वज्रधारिन्	वज्रधारिन्
१०९	६	वाक्	वाक्
"	३	सूत	सूतं
"	१०	सत्यवता	सत्यवता
"	१५	कर्मिन्	कर्मिन्
"	१	शोका	शोको
"	१८	द्विज	द्विज
"	१८	तेजोऽय	तेजोऽय
११०	१	पट्टिपात्र	पट्टिपात्रो
"	६	चम्पा, नीरज	चम्पा, नारी नीरज
"	५०	आमो	आमो
"	६	तेजस्वी	तेजस्वी

पृष्ठ	पंक्ति	प्राच्य	शुद्ध
१४२	११	मङ्गलः	मङ्गल
"	१२	भारतम्	भारतम्
१४३	१३	कुरुक्षेत्र	कुरुक्षेत्र
१४४	६	परमेश्वरम्	परमेश्वरम्
१४५	११	सर्व	सर्व
१४६	६	कृति	कृति
"	१७	नव	नव
१४७	४	माने	माने
"	१८	कोट	कोटी
१४८	६	राज्य	राज्ये
"	१०	गुण	गुण
१४९	१४	प्रपद्य	प्रपद्य
१५०	६	चर्च	चर्च
१५१	४	व्यय	व्यय
१५२	३	मोक्ष	मोक्ष
१५३	२	पा-दि	पाद-दि
"	६	सर्व	सर्व
"	६	पुरुषार्थम्	पुरुषार्थम्
"	१७	योग	योग
१५४	११	संपदा	संपदा
१५५	६	नारायण	नारायण

पृष्ठ	पंक्ति	मसुदा	मुद्र
१६६	१४	परा	परां
॥	२	पदा	पदा
१७१	४)	,
१७२	२०	वादिनाम्	वादिनाम्
१७३	१६	कर्म	कर्म
१७४	४	यो	दे
॥	८	से "असत्"	से वे "असत्"
१७६	१६	निश्चित	निश्चित
१७६	४	को	को
१८०	४	त्रिविधः	त्रिविधः
॥	१०	पौरुषम्	पौरुषम्
११८३	७	प्रवृत्ती निवृत्ती	प्रवृत्ती निवृत्ती
१८४	१२	ज्ञान	ज्ञानं
१८५	२०	वही	वही
१८८	२	सतत	सततं
॥	६	निबोधयति	निबोधयति
१६१	१०	आवे	आवे
॥	११	गूढ	गूढ
॥	१६	समस्त	समस्त
१६२	१०	भोज	भोज

